ई० पू० छठीं शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति का भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था पर प्रभाव

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी के इतिहास विभाग

की

पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

Present view of the Main Gate of Bundelkhand University

सन् 2006
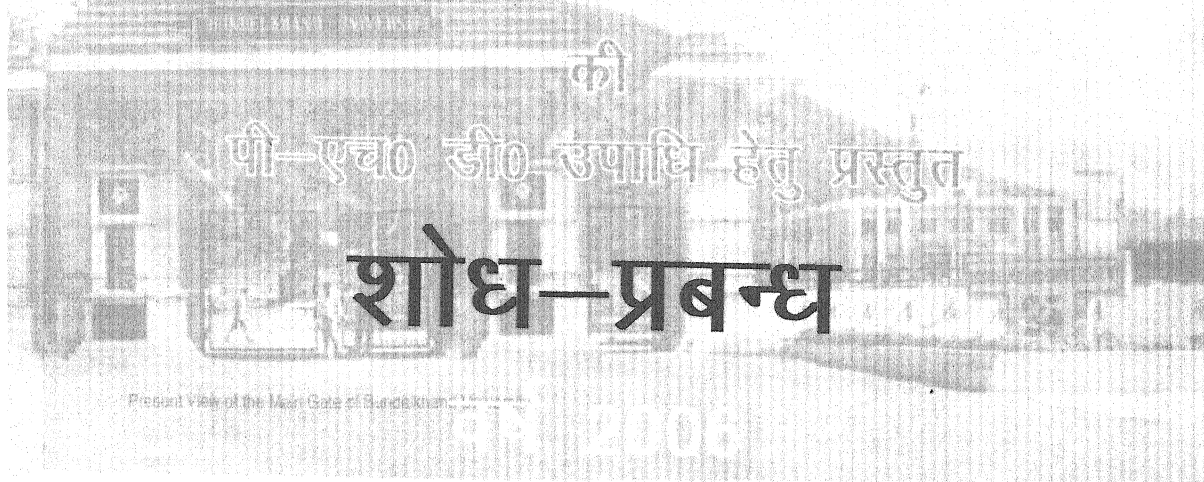
पर्यवेक्षक
(डॉ० एस० पी० पाठक)
विभागाध्यक्ष इतिहास
बुन्देलखण्ड कालेज, झांसी

गवेषिका
(श्रीमती निर्मला दुबे)

इतिहास विभाग
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय
झाँसी

डॉ0 एस0पी0पाठक
विभागाध्यक्ष(इतिहास)
बुन्देलखण्ड कालेज,झाँसी

संयोजक इतिहास शोध समिति
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,
झाँसी ।
फोन - 0510 – 2472317

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती निर्मला दुबे ने मेरे निर्देशन में 'ई०पू० छठी शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति का भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था पर प्रभाव' विषय को अधिकृत कर शोध-कार्य किया है । यह शोध-प्रबन्ध नितान्त मौलिक तथा अनुसन्धान की वैज्ञानिकता से युक्त है ।

मैं इसे पीएच०डी० की उपाधि हेतु मूल्यांकनार्थ संस्तुत करता हूँ । यह भी प्रमाणित किया जाता है कि गवेषिका ने 200 दिन से अधिक उपस्थिति की अनिवार्यता पूरी कर ली है।

(डॉ० एस०पी०पाठक)
इतिहास विभाग
बुन्देलखण्ड कालेज,झाँसी

23/12/06

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

शोध विषयक कुछ शब्द

अपने अतीत को जानने तथा उससे शिक्षा ग्रहण कर भविष्य को सुधारने की विचारसरणि ने इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता का जनन किया । छोटी-बड़ी घटनाएँ कैसे सम्पूर्ण समाज की दशा और दिशा निश्चित कर देती हैं, यह ऐतिहासिक अध्ययनों से स्पष्ट होता है । भारतीय परिवेश में छठी शताब्दी ई०पू० में बौद्ध तथा जैन धर्म ने बहुत ही क्रान्तिकारी तरीके से समाज को सर्वतोभावेन प्रभावित किया। इस प्रभाव ने धार्मिक कुरीतियों पर चोट किया। समाज के प्रत्येक वर्ग को सम्बल प्रदान किया तथा सामाजिक मूल्यों और व्यावहारिक मान्यताओं को आवश्यकतानुसार परिवर्तित तथा परिवर्धित किया। बुद्ध की सर्वजनप्रियता, जनसमुदाय की भाषा तथा अहिंसात्मिका प्रवृत्ति और सुधारात्मक प्रयास ने पाखण्डी व्यवहारों और कर्मकाण्डीय धार्मिक कृत्यों को झकझोर दिया।

नगरीय विकास, कृषि की अभ्युन्नति तथा व्यवस्थित वाणिज्य-व्यापार को बल प्रदान करने वाले बौद्ध तथा जैन धर्म ने सामाजिक क्रान्ति ला दी। यही क्रान्तिकारी कदम तथा तत्प्रसूत कारण और कार्य इस शोध का उत्स है।

शोधार्थी इस विषय में सतत सतर्क रहता है कि वह कुछ भी अनपेक्षित न लिखे। इस अपेक्षा का सर्वथा पालन करते हुए ६०० ई०पू० से २०० ई०पू० तक

की गतिविधियों पर ही केन्द्रित रहने का प्रयास किया गया है; फिर भी यत्र-तत्र इससे विचलन भी हुआ है। यथा पॉचवे अध्याय में पूर्वापर स्थितियों का वर्णन किंचित आधिक्य को दर्शाता है। इसका मूल कारण आर्थिक तथा सामाजिक विकास के क्रमिक उद्विकास का वर्णन करते हुए उसमें तर-तम भाव स्थापित करना है। अनुसन्धात्री ने यह भी प्रयास किया है कि कुछ भी अमूल न लिखा जाए अर्थात् जो भी लिखें वह सप्रमाण हो।

उपर्युक्त निकषों पर अपने को कसने में मुझ गवेषिका को निश्चित रूप से कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस कठिन परिस्थिति में सम्यक् मार्ग दर्शन तथा मानसिक सम्बल प्रदान कर मेरे निर्देशक आदरणीय डॉ०एस०पी०पाठक जी ने मुझे शक्ति प्रदान किया। एतदर्थ मैं उनके प्रति मुक्त कण्ठ से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। मेरी शिक्षा इलाहाबाद में हुई है। वहॉ के मेरे गुरुओं ने मुझे पुस्तकें उपलब्ध कराकर तथा समय-समय पर दिग्दर्शन प्रदान कर मेरे शोध-कार्य में सहयोग दिया है, इसके लिए मैं प्रणति पुरस्सर उनके आधमर्ण्य को अंगीकार करती हूँ। विशेषकर विद्वान् प्रो०आर०पी०त्रिपाठी तथा डॉ०आर०एन०पाण्डेय जी के प्रति पृथक् से कृतज्ञता ज्ञापित करने के लोभ का मैं संवरण नहीं कर पा रही हूँ ।

इस शोध-कार्य के प्रणयन में मेरे पति डॉ०आशुतोष दुबे जो उत्तर प्रदेश शैक्षिक सेवा के अधिकारी हैं का भी मुझे अनवरत सहयोग प्राप्त होता रहा है।

मैं उनके प्रति भी आभार प्रकट करना अपना धर्म समझती हूँ। अन्त में मैं इस शोध-प्रबन्ध को संगणक(कम्प्यूटर) द्वारा स्पष्ट अक्षरों में टंकित करने वाले श्री अमित भटनागर को कृतज्ञता पूर्वक धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने इसे सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत करने हेतु कलेवर प्रदान किया।

निर्मला

(निर्मला दुबे)

प्रथम अध्याय

भूमिका

भूमिका

निरन्तर अध्ययन करना तथा जीवन को सुखमय बनाने के लिए एक सुव्यवस्थित जीवन-पद्धति विकसित करना मनुष्य की स्वभाविक प्रवृत्ति है । वह भूत का अध्ययन कर जहाँ अपने पूर्वजों से संबन्धित जिज्ञासाओं को शांत करता है वहीं भविष्य के लिये योजनायें बनाता है । इस निरन्तर चिन्तन,मनन और निष्कर्ष निष्कासन की प्रक्रिया ने शोध-पद्धति का जनन किया । शोध-कार्य में हम जहाँ एक ओर नवीन तथ्यों का उद्घाटन करते हैं वहीं उद्घाटित का पुनः परीक्षण कर उसकी पुष्टि करते हैं । ध्यान यह रखा जाता है कि कुछ भी अमूल न लिखा जाये अर्थात बिना आधार के निकाले गये निष्कर्ष मान्य नहीं होते। वे केवल परिकल्पनाओं की श्रेणी में रखे जाते हैं ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में ईसा पूर्व छठी शाताब्दी की धार्मिक-क्रान्ति का भारतीय समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया गया है । ईसा पूर्व छठ़ी शताब्दी वैश्विक स्तर पर सामाजिक सुधार तथा तत्प्रसूत धार्मिक उथल-पुथल को द्योतित करने वाले काल-खण्ड की अभिव्यंजिका है । सम्पूर्ण विश्व के सुधारकों ने समकालीन सामाजिक एवं धार्मिक विकृतियों का विरोध किया तथा नवीन धार्मिक एवं आचरणीय सामाजिक व्यवस्था का पुनर्निमाण करने का प्रयास किया । चीन में कनफयूसियस, ईरान में जोराथ्रूस्त्रा और यूनान में परमानायड्स के कारण सामाजिक

तथा धर्मिक जागरण का जबरदस्त प्रस्फुटन हुआ । इसी समय भारत में बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म का प्रचार तथा प्रसार हुआ । गौतम बुद्ध ने नवीन धर्म की स्थापना की । जैन-धर्म यद्यपि बहुत पहले से अस्तित्व में था लेकिन वर्धमान महावीर ने इसे नवीन कलेवर में अत्यधिक ऊर्जस्विता के साथ प्रस्तुत किया जैन-धर्म तथा बौद्ध-धर्म ने तत्कालीन समाज में विद्यमान वैदिक कर्मकाण्डों का खण्डन किया, यज्ञीय अनुष्ठानों की निन्दा की तथा अहिंसा एवं अपरिग्रह से ओत-प्रोत सामाजिक समानता तथा न्याय सम्वलित नवीन समाजिक व्यवस्था का प्रचार किया इन दोनों धर्मो ने, विशेषकर बौद्ध धर्म ने वैदिक परम्परा के खण्डन तथा सामाजिक रूढ़ियों पर व्यवस्थित तरीके से प्रहार कर समाज में क्रान्ति ला दिया । बौद्ध-धर्म तथा संघ ने जनता को अपनी तरफ आकर्षित किया । इसकी अहिंसात्मिका वृत्ति ने मगध तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों में द्वितीय नगरीकरण का जनन किया । लोगों ने पशुओं के महत्व को समझा । भाईचारे की प्रवृत्ति में विश्वास किया । कृषि तथा पशुधन को सुरक्षित कर व्यावसायिक तथा नागरिक जीवन का पोषण किया । इस क्रान्तिकारी परिवर्तन ने समाज पर जो गहरा प्रभाव ड़ाला उसनें विविध समाज शास्त्रियों तथा इतिहासकारों को अध्ययनार्थ आकर्षित किया । यह शोधकार्य भी उसी श्रृंखला में अपरिमित जिज्ञासाओं को शान्त करने का लघु प्रयास है । ऐतिहासिक अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि विवेच्य काल में समाज तथा अर्थव्यवस्था दोनों ने एक दूसरे को बड़े

ही प्रभावशाली तरीके से प्रभावित किया है । बुद्ध के धर्म ने इन दोनों को शक्ति प्रदान किया तथा नगरीय जीवन का पोषण किया ।

यद्यपि ऐतिहासिक अध्ययन के दो महत्वपूर्ण स्त्रोत हैं - साहित्यिक तथा पुरातात्विक परन्तु विषय की आवश्यकता की दृष्टि से साहित्यिक स्त्रोतों को अध्ययन का आधार बनाया गया है । स्थूल रूप से इन्हें निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है -

स्त्रोत सामग्री की विवेचना

भारतीय परम्परा में प्राचीन ऐतिहासिक गतिविधियों के अध्ययन में धार्मिक ग्रन्थों का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है । ऐसा इसलिए क्योंकि भारत में स्पष्ट इतिहास लेखन की परम्परा आरम्भ में लगभग नगण्य थी । भारतीयों ने वैदिक युग से लेकर मध्यकाल तक जो साहित्य रचना की उन्हीं से हम ऐतिहासिक अध्ययन का पाथेय प्राप्त कर लेते हैं । ये साहित्य मुख्यतः तीन प्रकार के हैं - (१) ब्राह्मण साहित्य (२) बौद्ध साहित्य (३) जैन साहित्य। प्रस्तुत अध्ययन चूँकि ईसापूर्व छठी शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति के प्रभाव पर प्रकाश डालता है फलतः स्त्रोत सामग्री के रूप में बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य तथा आधुनिक ऐतिहासिक अध्ययनो यथा-प्रो०रामशरण शर्मा कृत अध्ययन, पी०वी० काणे कृत''धर्मशास्त्र का इतिहास'' और ऐसे ही अन्यान्य शोध सामग्रियों को साहित्यक स्त्रोत के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

बौद्ध साहित्य

छठी शताब्दी ईसा पूर्व की धार्मिक क्रान्ति के अध्ययनार्थ बौद्ध साहित्य अत्याज्य सामग्री को प्रस्तुत करता है । उत्तर भारत विशेषकर मगध और आस-पास के क्षेत्रों में होने वाली गतिविधियों की जानकारी हेतु बौद्धों के साहित्य का विशेष महत्व है ।[1]

बौद्ध साहित्य में विशेषकर पूर्ववर्ती त्रिपिटक साहित्य हैं जिनमें जनपद और महाजनपद की स्थापना,क्षेत्रीय पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता तथा आर्थिक गतिविधियो का विस्तृत विवेचन है ।

इस संदर्भ में जातक कथाओं का भी विशेष महत्व है जिनमें तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों, शिल्पों, दैनिक जीवन में मुद्रा के बढ़ते महत्व, व्यापारिक मार्ग, नगर संरचना तथा तत्कालीन सामाजिक परिवेश का भी सजीव वर्णन मिलता है ।

ये त्रिपिटक कब रचे गये इस पर इतिहासकारों में किंचित मत वैविध्य है तथापि स्थूल रूप में कुछ ग्रन्थों को कालक्रम की तीन अवस्थाओं में बॉटना समीचीन प्रतीत होता है । बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय पश्चात आहूत प्रथम बौद्ध संगीति में किन विशिष्ट अंशो का संकलन किया गया यह विवाद का प्रश्न है परन्तु इसके सौ

१- पाण्डेय,जी०सी०१६७६,(द्वितीय संस्करण) बौद्ध-धर्म के विकास का इतिहास । हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश लखनऊ ६४-६५

वर्ष पश्चात सम्पन्न द्वितीय संगीति तक कुछ अंश संकलित कर लिये गये थे इसे प्रायः सभी इतिहासकारों ने स्वीकार किया है ।[2]

विनयपिटक जिसके कुछ अंश अशोक के भब्रू अभिलेख में उल्लिखित हैं मौर्य कालीन रचित प्रतीत होता है और सम्भवतः इसका संकलन तृतीय संगीति के समय हुआ होगा ।[3] अधिकाँश जातक कथायें और अभिधम्मपिटक के अधिकाँश भाग इनके बाद के माने गये हैं।

उत्तरवर्ती बौद्ध साहित्य

इस कोटि में महावस्तु, ललित विस्तर मिलिन्दपन्हो और बुद्धचरित आदि ग्रन्थ आते हैं । इन ग्रन्थों में समसामयिक समाज और धर्म का सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है ।

जातकों में बुद्ध के पूर्व जन्म की कथायें वर्णित हैं । ये कथायें कल्पित अवश्य हैं किन्तु इनसे सामाजिक जीवन का विशद वर्णन प्राप्त होता है । त्रिपिटक तो बौद्ध धर्म का आधारभूत साहित्य है जिसके माध्यम से तत्कालीन समाज और धर्म का स्पष्ट चित्रण प्राप्त होता है । बुद्ध के धर्म संबधी निर्देश के मूल स्त्रोत ये तीन पिटक- (१)सुत्तपिटक, (२)विनयपिटक तथा (३)धम्मपिटक हैं।

२- विन्टरनित्ज, एम० १९८३, (रिवाइज्ड संस्करण) हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर वाल्यूम-२, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली,वाराणसी,पटना-७ ।
३- वही पृष्ठ -७-८ ।

जैन साहित्य

छठी शताब्दी ईसा पूर्व धार्मिक क्रान्ति में जैन धर्म का भी अपना महत्व है । नगरीकरण व्यावसायीकरण तथा कृषि एवं समाज से संबन्धित गतिविधियो का वर्णन जैन साहित्य में भरा पड़ा है । धार्मिक इतिहास तथा समाजिक परिर्वतन के अध्ययन जैन आगम ग्रन्थों का अपना अप्रतिम महत्व है । इन आगम ग्रन्थों में कई प्रकार की पुस्तकों का संकलन किया गया है । विन्टरनित्ज का मानना है कि आगम साहित्य के प्राचीनतम् अंश ईसा पूर्व के चौथी से द्वितीय शाताब्दी ईसा पूर्व के हो सकते हैं ।[4] दिगम्बरों के छठे ''अंग'' का नाम ज्ञातिधर्मकथांग था । यह ग्रन्थ उन कुछ धर्मगृहीत ग्रन्थों में से एक है जो श्वेताम्बरों और दिगम्बरों दोनो में था ।[5] यह जैन ग्रन्थ तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व के पहले ही विद्यमान होगा ।[6] ज्ञाताधर्मकथा में धान की रोपाई का विशद् वर्णन प्राप्त होता है । इसमें हमें सूचना मिलती है कि धन नामक एक समृद्ध व्यापारी की चार में से एक पुत्रवधू रोहिणी की गृहस्थी से सम्बद्ध कृषि-मजदूर (कुलधरपुरिसे) से भली प्रकार तैयार की गयी एक क्यारी में पॉच अक्षत धान के बीज बोते हैं । वे दो और तीन बार

४- वही पृष्ठ ४१८ ।
५- शर्मा, रामशरण, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं संरचनायए पेपर बैक, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली(१९९७) पृष्ठ १४५ ।
६- वही पृष्ठ १०६ ।

पौधों की रोपाई करते हैं । (दोच्चम् पितच्चम् पि उक्खयनिहए करेन्ति)[7] ज्ञाताधर्मकथा'अंग' वह ग्रन्थ मगध तथा मिथिला से परिचित था । धान की रोपाई करने वाली कथा राजगृह की है तथापि ग्रन्थ में चम्पा तथा मिथिला का भी उल्लेख है । ''ज्ञाताधर्मकथा की मौर्य काल से पूर्व की तिथि निश्चित नहीं है ।''[8]

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में उत्तराध्ययन सूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, उवासकदसाओं इत्यादि जैन ग्रन्थों को स्त्रोत सामग्री के रूप में रखने के पीछे मूल तर्क यह है कि एक तो ये जैन-साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ कहे जा सकते हैं दूसरे ये तत्कालीन आर्थिक तथा सामाजिक, कृषि तथा नगर जीवन पर सुस्पष्ट वर्णन उपलब्ध कराते हैं ।

उपर्युक्त के अतिरिक्त बौध कालीन समाज तथा पूर्ववर्ती सामाजिक जीवन का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों से इतर सूत्र ग्रन्थों, धर्मशास्त्रों तथा पुराणों को भी स्त्रोत सामग्री के रूप में प्रयुक्त किया गया है ।

चूंकि धार्मिक क्रान्तियों का समाज उसके रहन-सहन तथा तत्प्रसूत आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन पर गहरा प्रभाव प्रथम दृष्ट्या प्रतीत होता है, इसलिए तत्कालीन धर्मग्रन्थों, पालिग्रन्थों के साथ-साथ लौह-प्रद्योगिकी

७- वही पृष्ठ १४६ ।
८- वही पृष्ठ १४६ ।

तथा कृषि से संबन्धित साहित्य-ग्रन्थों का भी अध्ययन किया गया है । इसी लिए डी०डी० कौशाम्बी कृत ''प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता'' तथा लल्लन जी गोपाल द्वारा लिखित ''इकनामिक लाइफ आफ नार्दर्न इण्डिया'' और प्रो० रामशरण शर्मा द्वारा कृत अध्ययनों का भी पर्याप्त उपयोग स्त्रोत सामग्री के रूप में किया गया है ।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पूर्व भारत की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का संक्षिप्त सिंहावलोकन

ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक उत्तर-वैदिक कालीन विचारधारा समाज को अनुप्राणित किये हुए थी । जब हम तत्कालीन समाज के रहन-सहन आवासीय व्यवस्था, धार्मिक-जीवन, विवाह-अर्थव्यवस्था तथा राजनीतिक जीवन पर दृष्टि डालते हैं तो यह पाते हैं कि उस समय जीवन सरल तथा धार्मिक सोच कर्मकाण्डीय थी । समाज में वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था और वैदिक यज्ञीय व्यवस्था प्रचलन में थी । यद्यपि उपनिषदों में ज्ञान की प्रशंसा तथा कर्मकाण्डों की तुच्छता पर बल दिया गया था तथापि इसका सामाजिक जीवन में उतना अधिक प्रचार-प्रसार नहीं था । लोगों में पशु-बलि और अन्धविश्वास के प्रति आस्था विद्यमान थी ।

सरल जीवन होने तथा उत्पादन,भरण-पोषण भर ही होने के कारण व्यापारिक केन्द्रों तथा नगर-क्षेत्रों का विकास नगण्य था । सातवीं सदी ई०पू०

के लगभग केवल एक-दो नगर ही विकसित हो सके थे अन्यथा कस्बे ही थे ।[9] वस्तुतः वैदिक आर्य ग्रामीण जीवन के अनुगामी थे तथा बीहडों में रहते थे । उनका जीवन यज्ञीय कर्मकाण्डों के निर्देशों से सराबोर था । वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा जातीय कर्तव्य एवं प्रतिबन्ध उनके आचार-विचार को निरन्तर प्रभावित किये हुए थे ।

कृषि कार्य में लकडी का ही प्रयोग बाहुल्येन किया जाता था । यहाँ तक कि कृषि के महत्वपूर्ण उपकरण हल के फाल के रूप में भी लोहे के स्थान पर लकड़ी का ही प्रयोग किया जाता था । ऐसा नहीं था कि कृषि कार्य में लोहे का एकदम प्रयोग नहीं होता था बल्कि इनका प्रयोग अत्यधिक सीमित मात्रा में होता था । कृषि में सिंचाई का भी उतना महत्व नहीं था जितना बौद्ध धर्म के प्रभाव के अनन्तर हुआ । उदाहरणार्थ 'ब्रीहि' धान का एक प्रकार था जो वर्षा के जल से ही उत्पन्न होता था । इससे प्रो० रामशरण शर्मा आदि आधुनिक इतिहासकारों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि तत्कालीन लोग धान की रोपाई की कला से परिचित नहीं थे । कम उपज होने के कारण स्वाभाविक रूप से कृषक नियमित 'कर' देने में समर्थ नहीं थे। कृषि की सीमित आय सरल-जीवन तथा नगर-क्षेत्रों के नगण्य विकास ने मजबूत राज्य व्यवस्था को स्थापित नहीं

९- मिश्र, डॉ० जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ-२८

किया था । उत्तर-वैदिक काल कृषि तथा लोहे के सीमित प्रयोग पर आधारित था । लोहे का प्रयोग कृषि में नगण्य तथा अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में पर्याप्त किया जा रहा था । परन्तु ध्यातव्य है कि लोहे में कार्बन-मिश्रण की कला बहुत विकसित नहीं थी जिसके परिणाम स्वरूप लोहे के बने हथियार बहुत अधिक प्रभावशाली नहीं थे । इस काल में जनजातीय राज्यों का क्षेत्रीय राज्यों में परिवर्तन तथा जनजातीय समाज का वर्गो में एवं व्यवसायिक समूहीकरण में क्रमिक परिवर्तन प्रारम्भ हुआ । महान प्रमुखों की सार्वजनिक यज्ञों को सम्पन्न करने की योग्यता के अतिरिक्त उत्तर-वैदिक समाज की एक प्रमुख विशेषता है पुरोहितों का प्रभुत्व, जो सोलह वर्गो में विभाजित थे और शीर्ष स्थान ब्राह्मण का था । सम्भवतः यह वैदिक लोगों के अवैदिक लोगों से एकीकरण का परिणाम था । अवैदिक लोगों में जादू-टोना करने वाले पुरोहितों की महत्वपूर्ण भूमिका थी । ''अर्थववेद में इनके उल्लेख हैं ।''[10]

स्पष्ट है कि वैदिक कालीन धूमन्तू आर्यो ने अपने इहलौकिक जीवन के कल्याण तथा आक्रमण कारी क्षमता की वृद्धि पर बल दिया। उनकी देव-पूजा कर्म काण्ड को महत्ता देती थी । कर्मकाण्ड शत्रु के विनाश तथा अपने विकास के लिए किये जाते थे । जनजातीय कबिलाई

१०- शर्मा, रामशरण प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनायें पृष्ठ-२१७

सम्पन्न राज्य व्यवस्था के अभाव में शक्ति प्रधान राज्यव्यवस्था थी । स्थिर तथा अधिशेष उत्पादन नियमित कर-प्रणाली नहीं विकसित थी लेकिन बुद्ध के काल तक आते-आते द्वितीय नगरीकरण की संस्कृति विकसित होने लगी थी । लोहे का उपयोग करने वाले चित्रित-धूसर मृदभाण्ड संस्कृति का प्राबल्य दृष्टिगोचर होने लगा । कृषक अपने भरण-पोषण की आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन करने लगे । कर व्यवस्था को नियमित करने का प्रयास किया गया । कर संग्रह करने तथा राज्य की रक्षा करने के लिए जनजातीय सेना को व्यावसायिक सेना में परिवर्तित कर दिया गया । वर्णाश्रम व्यवस्था दृढ़ता से लागू करने का प्रयास किया गया । इस प्रकार सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन वैदिक काल की अपेक्षा व्यवस्थित हो गया था । इस समय महा जनपद कहे जाने वाले बडे क्षेत्रीय राज्यों का उदय हो चुका था । ऊॅंच-नीच का भेद-भाव तथा दूरूह एवं जटिल कर्मकाण्डीय व्यवस्था समाज में परिव्याप्त थी । ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग को व्यापार में संलग्न होने की मनाही थी । वैश्यों का स्थान उच्चता के क्रम में तीसरे पर था । शूद्र चौथे स्थान पर थे । वैदिक-धर्म में आस्था इतनी थी कि वैदिक मंत्र दैविक माने जाते थे । इनके ऊपर किसी भी प्रकार का अविश्वास नहीं किया जा सकता था । यज्ञीय कर्मकाण्ड अत्यधिक जटिल होने के कारण नीरस तथा पशुओं के अनावश्यक वध-स्थल हो गये थे ।

वैदिक यज्ञवाद प्रवृतिमार्गी था । परन्तु ऐसा नहीं था कि जैन एवं बौद्ध-धर्म के आविर्भाव से पहले इस प्रवृतिमार्गी धर्म का कथमपि विरोध नहीं था । बल्कि वैदिक-धर्म का विरोध करने वाले कई सम्प्रदाय ईसा पूर्व छठी शताब्दी में अस्तित्व में थे इनमें से निम्न अत्यधिक महत्वपूर्ण थे-

(१) पूरणकश्यप का 'अक्रियवाद' । इस मत के अनुसार किसी भी कार्य का कोई पाप-पुण्य संबधी फल नहीं होता ।

(२) मक्खलिगोशाल का 'आजीवक' सम्प्रदाय । इस मत के अनुसार प्राणी नियति के अधीन है। उसका न तो कोई अपना बल है न कोई पराक्रम। सुख-दुःख का भोग वह अपने भाग्य के अनुसार करता है ।

(३) अजितकेशकम्बलिन का नितान्त 'भौतिकवाद' । इस मत के अनुसार यह शरीर विविध तत्वों से निर्मित है । मृत्यु के पश्चात पाप-पुण्य कुछ भी शेष नहीं रहता बल्कि सबका उच्छेद हो जाता है ।

(४) संजयवेलट्ठि पुत्र का 'अनिश्चयवाद' । इसका मानना था कि हम इस समय कुछ भी नहीं कह सकते कि परलोक है या नहीं है । जीवन संबधी किसी प्रश्न का उत्तर एकदम निश्चय के साथ नहीं दिया जा सकता है ।

(५) पकुधकाच्चायन का 'अणुवाद'। इसका मानना था कि यदि कोई किसी को काटता मारता है

तो न वह काटा जाता है न मारा जाता है । इन्होनें पुनर्जन्म तथा कर्म को भी नकारा । शरीर को बनाये रखने वाले तत्व-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन-अनियमित तथा अबध्य हैं ।

ये उपर्युक्त सम्प्रदाय तथा इसी प्रकार के अन्य साम्प्रदायिक विचार अपने में सरलता तथा व्यावहारिकता की वह शक्ति नहीं लिए हुए थे जिससे कर्मकाण्डीय वर्ण तथा जाति आधारित क्लिष्ट वैदिक प्रचलित विचार धारा का स्थान ले सके । सम्भवतः यही कारण था जिससे बौद्ध-धर्म की सरल तथा व्यावहारिक विचारधारा जनता में तेजी से फैली । समाज के हर वर्ग ने इसे अपने अनुरूप पाया ।

------::------

द्वितीय अध्याय

छठी शताब्दी ई०पू० के धार्मिक आन्दोलनों की सामाजिक - आर्थिक पृष्ठभूमि

बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति का भौतिक वातावरण

वस्तुतः ईसा पूर्व छठी शताब्दी का काल वैचारिक अभ्युन्नति का समय रहा है । विश्व स्तर पर विशेषकर एशिया महाद्वीप में क्रान्तिकारी धार्मिक व्यवस्थाओं का अभ्युदय हो रहा था । भारत वर्ष में भी जैन तथा बौद्ध धर्म सामाजिक परिवेश के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए नवीन रूप ग्रहण कर रहे थे; लेकिन बौद्ध धर्म वैदिक धर्म तथा तत्श्रृंखला में प्रतिपादित औपनिषद व्यवस्था से भिन्नता लिए हुए था, जो समाज में तेजी से ग्राह्य हुआ । एक तो यह धर्म सनातन धर्म से मेल खाता हुआ था ; क्योंकि सत्य तथा आचरण की पवित्रता को समाहित किये हुए था । दूसरे इसने राजाओं और वैश्यों को उदारता पूर्वक अपनी तरफ आकर्षित किया । इस धर्म ने और जैन धर्म ने अहिंसा और अपरिग्रह पर विशेष बल दिया। इस प्रवृत्ति ने कृषि उत्पादन और व्यापार व्यवस्था को क्रान्तिकारी रूप से प्रभावित किया । ईसा पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी से तो लोहे का प्रयोग विधिवत् आरम्भ हो गया था । हस्तिनापुर, आलमगीरपुर, अतरंजीखेडा आदि की खुदाइयों से यह पूर्णतः प्रमाणित हो चुका है । लोहे की खोज में तथा उसके औजारों ने कृषि उत्पादन को प्रभावित किया । खेती बढी अधिशेष उत्पादन आरम्भ हुआ । नगरीकरण ने मूर्त रूप लिया । नगरीकरण की व्यवस्था और व्यापारिक आवश्यक़ता ने बुद्ध द्वारा स्थापित धर्म के लिए बहुत ही अनुकूल वातावरण का निर्माण किया । अहिंसा ने इसे और भी उपयुक्तता प्रदान की । वैदिक संस्कृति में

हिंसा को स्वीकृति प्राप्त थी । तभी तो कहते हैं "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" अर्थात यज्ञ क्रिया के समय बलि देना पूर्णतः प्रचलन में था। नगरीकरण तथा उससे सम्बलित वाणिज्य व्यवस्था ने जिस सेठों और महाजनों के समृद्ध वर्ग वाले समाज का निर्माण किया उसने बुद्ध के सरल, सात्विक और अहिंसक धर्म को अपने लिए उपयुक्त पाया । कृषि कार्य में लगे लोगों ने भी इसे लाभकारी पाया । जहाँ वैदिक यज्ञों में पशुधन का बहुत बडा हिस्सा विनष्ट हो जा रहा था, वहीं अब इनका उपयोग दूध,दही तथा उससे निर्मित मिष्ठान्नों और व्यजंनों के निर्माण में प्रयुक्त होने लगा । गायों के बछडे हल जोतने के लिए प्रयोग किये जाने लगे । इस प्रकार निस्सन्देह कृषकों के लिए भी यह धर्म उपयोगी रहा । प्रोफेसर रामशरण शर्मा ने संयुक्तनिकाय के आधार पर लिखा है कि जब एक बार बुद्ध श्रावस्ती गये तो कौशल के राजा प्रसेनजित ने एक महा यज्ञ प्रारम्भ किया । इस यज्ञ में ५०० बैल, ५०० बछिए तथा ५०० भेडें वलि के निमित्त इस यज्ञ स्तम्भ में बाँधे गये थे(पंच च वसभसतानि पंच च वच्छतर सतानि पंच च वच्छतरिसतानि पंच च अजसतानि पंच च उरष्मसतानि थूणूपनितानिं होन्ति यञत्थाय) । राजा के सेवक, दूत तथा किराये के मजदूर जो भय तथा बल से आतंकित थे--आखों में अश्रुभरकर इस यज्ञ के लिए तैयारियाँ कर रहे थे।[1] लुहारों ने व्यवस्थित जीवन अपनाया । इस प्रकार लोहे

१-शर्मा,श्री रामशरण, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ-पृष्ठ-१७२

के अविष्कार बछडों की पर्याप्त मात्रा में प्राप्ति ने अधिशेष उत्पादन को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाया, जिसे लेकर व्यापारी-वर्ग शहरों में जाता था । व्यापारी-वर्ग के लिए भी यह लोहे का उत्पादन एवं बौद्ध धर्म लाभकारी सिद्ध हो रहा था । अतः व्यापारी वर्ग इसकी तरफ आकर्षित हुआ । चूँकि बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध राज परिवार में पैदा हुए थे तथा क्षत्रिय-वर्ण के थे । इसलिए जमींदारों तथा राज परिवारों का भी संरक्षण इस धर्म को प्राप्त हुआ । इसने भी बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए वातावरण निर्मित किया । 'सुन्तनिपात' मज्झिमनिकाय तथा अन्य प्रारम्भिक पालिग्रन्थों में गौ-हत्या का बहुशः उल्लेख है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से यह पता चलता है; यज्ञों के नाम पर बहुत से पशुओं की हत्या कर दी जाती थी । प्रचुर-मात्रा में दूध देने वाली गायों को भी काटे जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । इन ग्रन्थों में लिखी हुई बातों का समर्थन उत्तर-प्रदेश के एटा जिले में स्थित अतंरजीखेड़ा के उत्खनन में प्राप्त गौ-वंश की अस्थियों की पहचान से होता है । इन अस्थियों के सूक्ष्म परीक्षण से विदित होता है कि इन्हें काटा गया था । तथ्यों के विश्लेषण से तथा उत्खनन सामग्री से यह बात निर्विवादित हो चुकी है, कि जैन धर्म और बौद्ध धर्म से इतर की तत्कालीन धार्मिक परम्पराओं ने गाय-बैलों की सुरक्षा के लिए कोई विशेष नियम नहीं बनाये; जबकि लोहे के फाल तथा हल से की जाने वाली खेती के लिए इनके सुरक्षा की महती आवश्यकता थी । इस कार्य को बौद्ध-धर्म ने व्यापक-स्तर पर किया । यद्यपि बलि

के विरूद्ध एक हलका विरोध कुछ उत्तर-वैदिक उल्लेखों में भी दृष्टिगोचर है । ऋग्वेद में 'अधन्या' शब्द अर्थात् न मारने योग्य, बहुधा दूध देने वाली गाय के लिए प्रयुक्त हुआ है और यह शब्द साधारणतः ग्रंथ के बाद के अंशों में प्राप्त होता है। गाय-बैलों के लिए यह शब्द अनेक बार अथर्ववेद में भी प्रयुक्त हुआ है, जिसमें कृषि के भी पर्याप्त साक्ष्य है । परन्तु पशु बलि के अनेक उल्लेख प्रदर्शित करते हैं कि अनेक गाय-बैलों सहित पशुओं को मारना साधारणतः वैदिक विचार धारा द्वारा समर्थित था । इसके विरूद्ध गौतम बुद्ध इस बात पर बल देते हैं कि पशु बलि से किसी प्रकार का पुण्य-फल नहीं प्राप्त होता । वे ऐसे यज्ञ का समर्थन करते हैं, जिसमें हिंसा नहीं होती । उनके अनुसार महानतम यज्ञ है दान देना। लोहे के फाल, हँसिया, फावडे आदि के प्रयोग ने नगरीय सभ्यता का पोषण किया। नगरों ने विस्तृत अर्थों में पराश्रित कहे जाने वाले व्यापारियों, छोटे सेठों तथा दुकानदारों तथा शिल्प-कला में लगे दस्तकारों एवं मजदूरों का जनन एवं पोषण किया । विनिमय के माध्यम के रूप में आहत मुद्राओं के प्रयोग ने सम्पत्ति के अर्जन एवं सरल दान-परम्परा को बल प्रदान किया । यद्यपि निष्क का प्रयोग विनिमय के माध्यम के रूप में वैदिक काल से ही होता था, तथापि बुद्ध के पहले के वास्तविक सिक्के नहीं प्राप्त होते हैं । मुद्रा के प्रयोग तथा व्यापारी वर्ग की समृद्धि ने बौद्ध-धर्म के पुष्पण एवं पल्लवन के लिए उर्वरक का कार्य किया । वैदिक धर्म तथा तज्जन्य सामाजिक व्यवस्था में वैश्यों को तृतीय स्थान

प्राप्त था, क्योंकि प्रथम तथा द्वितीय स्थान क्रमशः ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के लिए सुरक्षित था । भारत में प्रचलित वैदिक तथा ब्राह्मण-धर्म समुद्र-यात्रा को निन्दित मानते थे, जबकि व्यापार एवं वाणिज्य के लिए ऐसा करना अनिवार्य सा था । इस कार्य को करने वाले व्यापारी हेय दृष्टि से देखे जाते थे। बौद्ध-धर्म ने इसे पाप की श्रेणी में नहीं माना और इस प्रकार व्यापारियों की स्थिति को श्रेष्ठतर स्थान प्रदान किया । इस कार्य में लगे शिल्पकार मुद्रा की व्यवस्था एवं समाज के दलित एवं सामान्य जन ने इस धर्म को अपनाने तथा प्रचार-प्रसार करने के लिए वातावरण तैयार किया । मुद्रा-प्रणाली एवं वैश्यों का इस धर्म के प्रति आकर्षण ने राजाओं एवं धनिक वर्गों को इस धर्म के पोषण के लिए दान कार्य को सरल बना दिया। बौद्ध-धर्म के संस्थापक बुद्ध ने और उनके शिष्यों ने प्राप्त धनराशियों का प्रयोग मठों तथा बौद्ध संध के पोषण के लिए किया । बौद्ध-धर्म तथा संघो ने राजा से लेकर प्रजा तक; पराश्रयी नगरीय व्यापारियों से लेकर ठेठ ग्रामीण कृषि-मजदूरों तक सबको आश्रय दिया । महिलाओं तक ने इसे अपनी स्वतंत्रता में साधक माना । तात्पर्य यह है कि बौद्ध-धर्म ने तत्कालीन विकासशील आर्थिक परिस्थिति तथा वैदिक कर्मकाण्डों के जाल से मुक्ति के लिए छटपटा रहे जन सामान्य के अनुरूप अपने को प्रस्तुत किया। यही कारण रहा कि यह धर्म सर्वसामान्य का अपना धर्म हो गया ।

जैन परम्परा में उल्लिखित अर्थव्यवस्था

जैन-परम्परा भी बौद्ध-धर्म परम्परा की तरह अहिंसावादी है । जैन परम्परा के सम्बन्ध में हमें हेमचन्द्र कृत 'परिषिष्टपर्वण' तथा तिषष्टिशलाका पुरुषचरित महावीर-चरित आदि से विशेष ज्ञान प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त वृहत-कल्प सूत्र भाष्य, आचारांगसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, समराइच्कहा, भगवतीसूत्र, प्रबन्ध-चिन्तामणि, रासमाला और कीर्तिकौमुदी से सामाजिक, राजनीतिक और कुछ अर्थो में आर्थिक गतिविधियों का ज्ञान प्राप्त होता है । इसमें ज्ञाता धर्मकथा में कृषि सम्बन्धी कार्य का विवरण विस्तार से प्राप्त होता है अथवा नायाधम्मकहावो में धान के रोपण को व्यक्त करने वाला शब्द उक्खायलिहस प्रयुक्त मिलता है । जैन ग्रंथो के अनुसार नायाधम्मकहावो की विषय सामग्री उत्तराध्यन सूत्र की विषय सामग्री से निकट का सम्बन्ध प्रदर्शित करती है । ज्ञाताधर्मकथा में देवाणुपिया शब्द का प्रयोग बार-बार आया है । जो देवानांप्रिय अशोक का स्मरण कराता है । इस प्रकार यह जैन ग्रंथ विविध प्रकार से इतिहासकारों द्वारा तृतीय शताब्दी ईसा-पूर्व के पहले का सिद्ध होता है । अतः प्रस्तुत शोध--प्रबन्ध की विषय सामग्री के रूप में प्रयुक्त हुआ है । जैन धर्म आरम्भ से लेकर आजतक सर्वाधिक अहिंसावादी सामाजिक रहन-सहन को अपनाने वाला धर्म है । इसकी अहिंसक प्रवृत्तियों ने भी पशुरक्षा के लिए परिवेशीय

परिशोधन का कार्य किया । तात्पर्य यह है कि उत्तर-वैदिक काल में जिस यज्ञ परम्परा का समाज में प्रचलन था उसमें पशु-वध सामान्य बात थी, जो कि नवीन कृषि प्रणाली में अधिकाधिक मात्रा में अपेक्षित पशुओं की सुरक्षा के विपरीत तथ्य था । लोहे के फाल की खोज, नगरीकरण की व्यवस्था तथा व्यापारिक अभ्युदय ने जिस पराश्रयीवर्ग का जनन किया था; उसमें अधिशेष उत्पादन की समाज में महती आवश्यकता थी पशुबलि परम्परा के विरूद्ध प्रतिरोध का पहाड खडा कर दिया था । यज्ञ कर्मकाण्ड के लिए जैन धर्म में कोई स्थान नहीं था, परन्तु जैन विरोध प्रबल था । जैन धर्म को राजाओं तथा समाज के लोगों ने अपनाया था, इसलिए इसका प्रसार व्यवहारिक धरातल पर रहा । जैन संघो ने भी इस कार्य को बौद्ध-संघो के पूर्व से ही करना प्रारम्भ कर दिया था।''जैन संघ महावीर स्वामी के पहले से स्थापित था।'' इन्होनें पावा में ।। ब्राह्मणों को अपने धर्म में दीक्षित किया, जो उनके सर्वप्रथम अनुयायी थे । महावीर ने अपने सारे अनुयायियों को ।। गणों में विभक्त किया और और प्रत्येक गण(समूह) का गणधर(प्रधान) इन्हीं ।। ब्राह्मण में से एक-एक को बनाया । सभी गणधर अपने समूह के साथ महावीर स्वामी के नेतृत्व में धर्म प्रचार में सलंग्न हुए । जैन संघ के सदस्य ४ वर्गों में विभक्त थे : प्रथम भिक्षु, दूसरे भिक्षुणी, तीसरे श्रावक तथा चौथे श्राविका। श्रावक-श्राविका गृहस्थ जीवन बिताते थे । जैन-संघ सिद्धान्ततः सभी जातियों के लिए खुला था । महावीर स्वामी ने स्त्रियों को भी पुरूषों के समान संघ

में पूर्ण अधिकार देना स्वीकार किया । व्यवहार में संघ प्रवेश का लाभ उच्चवर्णो के सदस्यों को ही अधिक प्राप्त हुआ।''[2]

नायाधम्मकहावो में 'कुलधरपुरिसे'[3] का उल्लेख मिलता है, जिसकी पहचान कृषि मजदूर से की गयी है । एक प्रसंग में कहा गया है, कि २ और ३ बार धान की रोपाई की जाती थी । यह धर्म-ग्रन्थ मगध तथा मिथिला जो द्वितीय नगरीकरण का क्षेत्र है, कि सामाजिक व्यवस्था एवं रहन-सहन पर पर्याप्त प्रकाश डालता है । धान की रोपाई का उल्लेख करने वाली कथा राजगृह से सम्बन्ध रखती है । परन्तु ग्रन्थ में मिथिला तथा उससे लगे हुए चम्पारण्य क्षेत्र का भी उल्लेख मिलता है । कृषि व्यवस्था की उपेक्षा जैन-धर्म वाणिज्य एवं व्यापार का ज्यादे पोषक रहा है। क्योंकि अतिशय अहिंसक यह धर्म कृषि उत्पादन द्वारा भी प्राप्त वस्तुओं का प्रयोग इसलिए नहीं करते हैं, क्योंकि उनसे अनजाने में हिंसा होती रहती है । रात्रि के पश्चात जमीन को खोदने तथा खान-पान की व्यवस्था जैसे कृत्यों को वे निषिद्ध करते हैं । यद्यपि कृषि परम्परा पर जैन एवं बौद्ध धर्म दोनों का सकारात्मक एवं क्रान्तिकारी प्रभाव पडा, जिसे लोहे के उपकरणों के प्रचार-प्रसार ने बल प्रदान किया फिर

२-झा,द्विजेन्द्र नारायण एवं श्रीमाली कृष्ण मोहन, प्राचीन-भारत का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यन्वयन निदेशालय, दिल्ली पृष्ठ संख्या-१५०

३-नायाधम्मकहावो भाग-७, पृष्ठ संख्या-८५

भी बौद्ध-धर्म का प्रभाव कृषि-व्यवस्था पर ज्यादे पडा; लेकिन व्यापार तथा दुकान की व्यवस्था में लगे लोगों को जैन-धर्म अपेक्षाकृत किंचित अधिक शक्ति प्रदान किया, इस प्रकार जैन-धर्म कृषको की अपेक्षा श्रेष्ठियों तथा व्यापारियों के लिए ज्यादें उपयुक्त रहा, ये व्यापारी तथा दुकानदार कृषि से प्राप्त सामानो को लेकर शहरों में पहुँचाते थे तथा शहरी वस्तुओं को गाँवो में पहुँचाते थे । इस प्रकार इन्होंने दो वर्गों-एक तो नगर के अपेक्षाकृत निकट रहने वाले शिल्पकार, कृषि कार्य से इतर कार्य में लगे किन्तु तत्सबन्धी उपकरण बनाने वाले बढ़ई तथा लुहार आदि तथा दूसरे शुद्ध रूप से अन्नोत्पादन में लगे कृषक-दोनो के मध्य सेतु का कार्य किया। इस वाणिज्यक वर्ग ने इस बात के लिए दोनो ही वर्गो को आश्वस्त किया कि यदि वे अपने ही कार्य में कुशलता दर्शायें तो वे समाज में विद्यमान अन्य उत्पादनों एवं साधनो का लाभ प्राप्त कर सकते हैं । एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामानों को ले जाने का वर्णन कुछ बाद के काल के जैन-ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मिलता है; धन नामक एक समृद्ध व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामानो को ले जाने वाले कार्य को नेतृत्व प्रदान करता था, "त्रिषष्टिशलाकापुरूष चरित"[4] में यह वर्णन मिलता है, कि व्यापारिक काफिले के नेता धन ने ढ़ोल बजवाकर यह घोषणा कराई कि जो व्यापारी माल लेना चाहेगें, उन्हे वह माल देगा, जिन्हें माल ढ़ोने के लिए सवारी

४-त्रिषष्टिशलाका पुरूषचरित जिल्द १, पृष्ठ-७

चाहिए उन्हें वह सवारी उपलब्ध करायेगा । उसने यह भी घोषित किया कि जो साथी खाद्यान्न चाहेगें, उन्हें वह खाद्यान्न प्राप्त कराना सुनिश्चित करायेगा । धन ने एक नेता के रूप में यह विश्वास दिलाया कि वह जंगली पशुओं और डाकुओं से सुरक्षा चाहने वाले को भी इनसे सुरक्षा प्रदान करायेगा । इस प्रकार स्पष्ट है कि लम्बी दूरी तक व्यापार करने वाले लोगो को सुरक्षा के कडे प्रबन्ध करने पड़ते थे । साथ ही यह भी स्पष्ट है कि समाज में सहयोग और समन्वय की आवश्यकता को महसूस किया जाता था तथा जहाँ जो वस्तु नहीं होती थी वहाँ उन वस्तुओं को पहुँचाने वाले व्यापारी वर्ग मजबूत स्थिति को प्राप्त कर लिये थे । इसी ग्रन्थ में वर्षा ऋतु मे होने वाली आवागमन की समस्या का भी विशद वर्णन मिलता है । जब सेना कहीं जाती थी तो पेड़ो को काटकर रास्ता बनाना पड़ता था; जहाँ तक प्राचीन जैन-ग्रन्थों का वर्णन है, उनसे यही स्पष्ट होता है कि वैदिक धर्म से अनुप्राणित याज्ञिक सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर अहिंसक सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का कार्य जैन-धर्म ने जीवन्तता के साथ किया । व्यापारी वर्ग इसकी तरफ विशेष रूप से आकृष्ट हुआ तथा अपनी व्यावसायिक व्यवस्था के अनुरूप पाया ।

बौद्ध तथा जैन साहित्य में कृषि कार्य, व्यापार तथा शिल्प कार्य के विषय में पर्याप्त उल्लेख मिलता है । अतिशय अहिंसावादी होने के कारण जैन-धर्म ने भी बौद्ध-धर्म की ही तरह पशु बलि को कम कर कृषि के

मुख्य साधन हल को चलाने में सहयोग देने वाले बैलो की रक्षा की । चूँकि जैन-धर्म व्यापारिक वर्ग में ज्यादे स्थान बनाया इस लिए इन्होंने व्यापार के सुरक्षित एवं व्यवस्थित प्रणाली को विकसित किया । जैन-धर्म से संबन्धित साहित्यों में व्यापार-कार्य निष्पन्न करने वाली श्रेणियों का विशद विवरण प्राप्त होता है। अभिलेखीय साक्ष्यों में व्यापरिक तथा शिल्पिक दो प्रकार की श्रेणीयों का उल्लेख मिलता है । जिसके लिए संघ, पूग श्रेणी तथा गण शब्द प्रयुक्त हुए हैं । इन साक्ष्यों का अवलोकन करने पर हमें इन संगठनों की बहुत बड़ी संख्या मिलती है ।

जैन धर्म से संबन्धित साहित्यक, अभिलेखीय साक्ष्यों का अवलोकन करने पर हमें श्रेणियों की बहुत बड़ी संख्या मिलती है । उनमें बढ़ई(लकडी का काम करने वाले), सोना-चाँदी आदि धातु का काम करने वाले, पत्थर का काम करने वाले, चर्मकार, दन्तकार, ओदयंत्रिक (पनचक्की चलाने वाले), बसकर(बांस का काम करने वाले), वसकर(ठठेरे), रत्नकार(जौहरी), बुनकर या जुलाहे, कुम्हार, तिल पिषक(तेली), फूस का काम करने वाले, मालाकार(माली), ड़लिया बनाने वाले, रंगरेज, चित्रकार, धंज्जिक(धान्य के व्यापारी), कृषक, कसाई, मछुए, नाई तथा मालिश करने वाले, नाविक, चरवाहे सार्थ सहित व्यापारी, डाकू तथा लुटेरे, वनआरक्षी जो सार्थो की रक्षा करते थे तथा महाजन प्रमुख थे।

जैनागमों में शिल्पियों की आटठ्ारह श्रेणियों का विवरण मिलता है[5] -

१- कुम्भार - कुम्भार - मिटटी के बर्तन बनाने वाले

२- पटइल्ला - तन्तुवाम - पटकार

३- सुवण्णकार- तन्तुवाय - सोने का काम करने वाले

४- सुवकारा -सूत - रसोइये

५- गंथला - गन्धर्व - गायक

६- कासवगा - नाई

७- मालाकार - माला बनाने वाला

८- कच्छकारा -कथाकार - कथावाचक

६- तम्बोलिया -तम्बाकू बेचने वाले

१०- चम्मरू -चर्मकार - चमड़े का कार्य करने वाले

११- चंतपीलग - यंत्रपीडक - कोल्हू आदि चलाने वाले

१२- गंछिय - अगोछे बनाने वाले

१३- छिपाय -कपड़े पर छपाई करने वाले

१४- कसवारे - ठठेरे - बर्तन बनाने वाले

१५- सीवग - दर्जी

१६- गुआर - गोपाल - ग्वाले

१७- भिल्ला - शिकारी -- भील

१८- धीमर - मछुआरे

५- जम्बूद्वीपप्राप्ति

इन श्रेणियों के अपने नियम और कानून होते थे । उन्हें महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त थी । अपने नियम एवं कानूनों का उल्घंन करने वाले संगठन के व्यक्तियों को दण्ड देने का अधिकार भी इन श्रेणियों के पास होता था। श्रेणियॉं आधुनिक बैकों की तरह धन का लेन-देन भी करती थी । वस्तुतः चाहे जैन परम्परा के ग्रन्थ हों या बौद्ध परम्परा के ग्रन्थ हों अथवा विभिन्न स्मृति ग्रन्थ हों सभी में यह स्पष्ट है कि इन श्रेणियों का लोकतात्रिंक आधार पर विकास हुआ था । कालान्तर में शनैः-शनैः इनका अपना स्वतत्रं विधान बन गया । ये श्रेणियॉं आर्थिक के साथ-साथ वैधानिक, धार्मिक तथा लोक निर्माण के कार्य भी सम्पादित करती थीं ।

यद्यपि जैन-परम्परा ने कृषि की अपेक्षा व्यापारीयों को ज्यादें आकृष्ट किया, फिर भी जैन साहित्य में कृषि से संबन्धित अनेक उल्लेख मिलते हैं । तीन प्रकार की फसलों का वर्णन मिलता है - क्षैत्रिक, आरामिक और आटविक । 'क्षैत्रिक' फसल से अभिप्राय कृषि जन्य खेतों में उत्पन्न होने वाली फसलों से था जबकि 'आरामिक' से तात्पर्य उद्यानों में उत्पन्न होने वाले फसल से था । 'आटविक' अरण्यों में उत्पन्न होने वाले कृषि उत्पाद को कहते थे । कृषि कार्य में प्रयुक्त होने वाले खेत भी दो प्रकार के थे - 'सेतु' और 'केतु'[6] । सिंचाई के साधनों से युक्त सिंचित भूमि 'सेतु' थी जबकि मात्र वर्षाधीना भूमि 'केतू' थी।

६- बृहत्कल्पभाष्य १.८२६

कृषि कार्य में प्रयुक्त होने वाले साधन हल(जिसे कुलिय तथा नंगल[7] कहते थे), 'अंसिएहि' तथा 'सुपकत्तर' का उल्लेख नायाधम्मकहा तथा सूयडंग आदि ग्रन्थों में मिलता है, जैन साहित्य में विविध प्रकार के अन्न का उल्लेख मिलता है - यथा - यव, ब्रीहि, गोधूम, शालि, मास, चणा, मुद्‌ग, इच्छु, कप्पास, खोब, उण्णिय, लवंग, पिप्पल, सिंहवेर, तम्बोल आदि । ये 'क्षेत्रिक' उपज थे । अनार, अगूंर, आम्र, सेव, अंजीर, खजूर आदि विविध फल और युथिका, मल्लिका, चम्पक, मोगर, कुंद, वासंती आदि विभिन्न प्रकार के फूल 'आरामिक' उपज के अन्तर्गत आते थे । जम्बू, अशोक, पलाश, दाडिम, विल्व, चन्दन आदि ''आटविक'' उपज थे।[8]

अन्य सम्प्रदायों की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि

विवेच्य काल में उत्तर-भारत के मध्य गंगा-घाटी क्षेत्र में विविध धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ । इस समय के धार्मिक सम्प्रदाय तथा उनको मानने वाले संन्यासी तथा पारिव्राजक अपने धर्म की विशेषताओं से समाज को घूम-घूम कर अवगत कराते थे, ये लोग अपने मत का विविध प्रकारेण मण्डन तथा दूसरे के धर्म और दर्शन का खण्डन भी करते थे। ईसा पूर्व छठी शताब्दी धार्मिक सुधार

७- आवश्यकचूर्णि-८१
८- आचारां, २.१.८.२६६ नायाधम्मकाहा, १.१०(वर्णित मिश्रा जयशंकर प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृष्ट-५३६)

तथा नगरीकरण की शताब्दी है, इस काल में बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म ने सनातनी ब्राह्म्ण-परम्परा पर प्रहार किया तथा अहिंसा वादी कर्म काण्ड रहित धर्म का प्रचार किया, इस समय तक वैदिक यज्ञों तथा कर्म काण्डों में किए जाने वाले अनावश्यक व्यय की आलोचना सर्वत्र होने लगी थी । बौद्ध-धर्म तथा जैन धर्म की अहिंसा वादी आचरण ने पशुधन की रक्षा की तथा इस प्रकार कृषि-कार्य पर जन सामान्य की निर्भरता को बढ़ाया, कृषि कार्य में पशुओं के उपयोग बढ़ जाने से जन-सामान्य सामान्यतया पशुबलि के विरूद्ध हो गया। चूँकि वैदिक-धर्म अपौरुषेय सिद्धान्तों वाले वेद वाक्यों में विश्वास करते थे, इसलिए ये कमोवेश वैचारिक स्वतन्त्रता के विरूद्ध माने गये, परिणाम स्वरूप प्रबुद्ध वर्ग ने इस वैदिक धर्म के विरूद्ध आवाज उठायी ।

स्पष्ट है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी सामाजिक-धार्मिक तथा आर्थिक क्रान्ति के काल खण्ड को अभिव्यक्त करती है । इस सुधार के मूल में बौध-धर्म तथा जैन-धर्म का सर्व साधारण को स्वीकृत करने वाला दर्शन तथा अधिशेष उत्पादन का आधार तैयार करने वाली लौह-संस्कृति और तत्प्रसूत नगरीय संस्कृति के प्रादुर्भाव को माना जा सकता है । फिर भी इस काल खण्ड में वैदिक-धर्म, बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म से इतर अनेकों धर्म प्रचलन में थे बौद्ध ग्रन्थों में इनकी संख्या ६२ तथा जैन ग्रन्थों में ३६८

बतायी गयी है ।[9] 'दीघनिकाय' के 'ब्रहमपालसुत' में बुद्ध से पहले के मतो को ६२ मिथ्यादृष्टियों में गिनाया है, जिसमें फंसे रहने के कारण इन मतों के विचारक आत्मा तथा संसार को सही रूप में नहीं समझ पाये । उत्तर-भारत में ६ प्रमुख सम्प्रदाय थे । इनका विवरण निम्नलिखित है[10]-

(१) दैववादी या नियतिवादी

इस वाद के प्रर्वतक मक्खलि गोसाल थे । जैन आगमों में इन्हें पहले निर्गन्थनाथ पुत्र महावीर का शिष्य बताया गया है । ये अकर्मण्यवादी थे और कर्म में विश्वास नहीं करते थे । उनके अनुसार सभी प्राणी निर्बल और असहाय तथा भाग्य के चक्कर में दुःख भोगते हैं ।

(२) अक्रियावादी

इसके संस्थापक तथा प्रचारक पूरण काश्यप थे, जो इस वाद के तीर्थकर कहे जाते थे । उनका मत था कि किसी अच्छे, बुरे कार्य का कोई भी अच्छा बुरा फल नहीं होता । यम-नियम, संयम दान, परोपकार आदि पुण्य नहीं है और न ही झूठ, चोरी, हिंसा आदि पाप है । इनका कथन था कि कोई भी व्यक्ति कोई क्रिया नहीं करता। इसी कारण पूरण काश्यप के मत को अक्रियावाद कहा गया ।

९- श्रीवास्तव, कृष्ण चन्द, प्राचीन भारत का इतिहास चतुर्थ आवृत्ति १९८५, पृष्ठ-६६

१०- डॉ० इशवरी प्रसाद, प्राचीन भारतीय संस्कृति पृष्ठ-८०६

(३) अकृतवादी

इस वाद के संस्थापक प्रकुध्यकाच्चायन का कहना था कि पृथ्वी, जल, वायु, जीव, तेज, सुख-दुःख न तो कभी विकास को प्राप्त होते हैं और न ही वे एक-दूसरे को हानि पहुँचाते हैं । मरने वाला, मारने वाला, सुनने वाला या सुनाने वाला कोई नहीं है ।

(४) उच्छेदवादी

इस सम्प्रदाय का उल्लेख बौद्ध-ग्रन्थों में प्राप्त होता है । इस सम्प्रदाय का मत था कि पुनर्जन्म तथा परलोक का सिद्धान्त मिथ्या है तथा इस जीवन के पश्चात कोई जीवन नहीं होता । इसके संस्थापक अजीतकेसकम्बलि थे । ये आत्मा की सत्ता को नहीं मानते थे।

(५) अनिश्चिततावाद

इस वाद के संस्थापक संजय वेलट्ठिपुत्त थे । इनके मत को सन्देह वाद भी कहा जाता है। इनका कथन था कि परलोक, आत्मा, देवता, पुण्य-पाप होता है कि नहीं होता, मैं नहीं जानता, क्योंकि न तो मैंने परलोक देखा और न ही देवता ।

(६) चतुर्यामसंवर

बौद्ध धर्म की दृष्टि से, जैसा कि दीघनिकाय के 'श्रमण्यफल सुत्त' में कहा गया है इस मत के प्रर्वतक जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर थे ।

उपर्युक्त के अतिरिक्त निग्रोध, वच्छगीत्त, अजीतो, कुण्डलीय तथा वरधारी कतिपय ऐसे विचारक थे जो अपने विशिष्ट मतो का प्रचार करते हुए अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये हुए थे । इनके अतिरिक्त पूर्णतः निरीश्वरवादी इहलौकिक चार्वारू का मत भी प्रचलन में था । ये ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए पुनर्जन्म को भी नहीं मानते थे । यह मूलतः भौतिकवादी थे तथा इनका मानना था कि यदि शरीरधारी जीव का मृत्यु के पश्चात पुनर्जन्म मान भी लिया जाए तब भी शरीर का पुनरागमन तो कथमपि नहीं होता–भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनम् कुतः ।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व का काल सुधार का काल था फिर भी भारतीय मूलतः आस्तिक ही रहे। फलतः इन्होनें अपने जीवन यापन में सहयोग देने वाले तथा कर्मकाण्ड का विरोध करने वाले और मुक्ति की तरफ ले जाने वाले जैन तथा बौद्ध धर्म को अपनाया । ये दोनो धर्म ही कालान्तर में चिर स्थायी हुए । इनके प्रचारक क्रमशः महावीर स्वामी तथा गौतम बुद्ध इस काल खण्ड में क्रान्ति के अग्रदूत सिद्ध हुए । जैन तथा बौद्ध मत समाज में व्याप्त धार्मिक कुरीतियों के खण्डन के साथ ही लोक कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करने वाली जीवनचर्यासे सराबोर थे । इन दोनों के प्रचारको ने अपने धर्म को पण्डिताऊ संस्कृति भाषा के स्थान पर लोकप्रिय जनभाषा में लिपिबद्ध किया । चूंकि दोनो के प्रचारक क्षत्रिय थे अतः इन्हें राजकीय संरक्षण भी

सरलतया प्राप्त हुआ विशेषकर गौतम बुद्ध को । इन दोनो ने समाज के निम्न वर्गो में अपनी पैठ बनायी ।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी द्वितीय नगरी करण के आरम्भ की शताब्दी है । इस समय नगरों का विकास शिल्पी समुदाय का विस्तार तथा व्यवसाय और वाणिज्य की द्रुत प्रगति दृष्टिगत होती है । वैदिक सनातन धर्म में विद्यमान कर्मकाण्ड, पशुबलि तथा कमोवेश एक वर्ग विशेष के हाथों में सिमटे रहने वाले धार्मिक कृत्यों के स्थान पर दूसरे धर्म की तरफ लोगों का झुकाव स्वाभाविक था । परम्परागत घुमक्कड सन्यॉसियों, के स्थान पर व्यवस्थित धर्मप्रचारको को लोगो ने अधिक महत्व प्रदान किया । कृषि और वाणिज्य के विस्तार ने गोधन की रक्षा करने वाले धर्म तथा व्यापार में सहयोग देने वाले लौह प्रौद्योगिकी के विकास को पल्लवित पोषित करने वाले लुहारों तथा शिल्पकारों को प्रश्रय देने वाले सम्प्रदायों के विकास की पृष्ठभूमि को तैयार किया । नगरीकरण तथा बौद्ध-धर्म-दोनो ने एक दूसरे को पोषित किया ।

बहुजन द्वारा अपनाये जाने वाले धर्म का आर्थिक दर्शन

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है समाज में विशेष रूप से तीन धर्म बहुजन में स्वीकृत थे । प्रथम - वैदिक धर्म, द्वितीय - बौद्ध धर्म तथा तृतीय जैन धर्म। इनमें बौद्ध धर्म सामान्य जन में अधिक प्रचलित हुआ । वर्णव्यवस्था की निस्सारता स्पष्ट हो चुकी थी । गुण तथा कर्म के आधार पर निश्चित होने वाली वर्ण व्यवस्था रूढ़िगत जाति

प्रथा का रूप ले चुकी थी । शूद्रों की दशा अत्यन्त दयनीय थी । इन्हें समाज में निम्न स्थान तथा न्यूनतम् अधिकार प्राप्त थे जबकि इनकी संख्या सर्वाधिक थी । वैदिक धर्म की दूसरी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि ये उस यज्ञ कार्य में विश्वास करते थे जिसमें र्प्याप्त मात्रा में पशुबलि दी जाती थी। इनका मानना था कि 'वैदिकीहिंसा, हिंसा न भवति' । नवीन सामाजिक आर्थिक परिवेश में यह स्वीकार्य नहीं था । गौतम बुद्ध ने स्पष्टतः इस प्रकार के वैदिक यज्ञो की आलोचना की ।

वस्तुतः यह काल नगरीकरण को पोषित कर रहा था । नगरीकरण की यह विशेषता होती है कि नगरो में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से कृषि कार्य नहीं करते बल्कि गॉवो में उत्पन्न होने वाले अधिशेष अन्न पर आश्रित होते हैं । गॉव का कृषक भी बदले में वस्तु अथवा द्रव्य प्राप्त कर ही अपना अन्न देगा अतः नगरीकरण की तरह यह नितान्त आवश्यकता होती है कि शहरवासी व्यापार-वाणिज्य को अपनाये । मुद्रा का विकास भी अनिवार्य तत्व होता है । ऐसे में वह धर्म या मत अधिक स्वीकार्य होगा जो उत्पादन को बढ़ाने में सहयोग दे । व्यापारियों और शिल्पकारो की जीवनचर्या से निकट हो । बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म ने अहिंसावादी विचारधारा के कारण उपर्युक्त परिस्थितियों के अनुरूप अपने को प्रस्तुत किया । इसमें भी बौद्ध धर्म ज्यादें महत्वपूर्ण तथा विस्तृत रूप से जन सामान्य द्वारा स्वीकारा गया । इसका कारण यह था कि अधिशेष

उत्पादन करने वाले कृषक समुदाय की दुष्टि से जैन धर्म अतिशय अहिंसावादी होने के कारण बौद्ध धर्म की अपेक्षा कम उपयोगी था । जैन धर्मावलम्बी कृषि कार्य के समय भी यह ध्यान रखते थे कि किसी जीव की हत्या न हो, कीड़े भी हिंसा का शिकार न हो । इन परिस्थितिजन्य कारणो से अधिकांश लोगों ने बौद्ध धर्म को अपनाया ।

प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों में पशुबलि के विरूद्ध जबरदस्त विरोध प्रकट किया गया है । 'सुत्तनिपात' के ब्राह्मणधम्मिकसुत्त में एक स्थान पर बुद्ध उपदेश देते हैं कि पशुओं की रक्षा होनी चाहिए । माता, पिता, भ्राता तथा अन्य सम्बन्धियों की भाँति पशु भी हमारे मित्र हैं । वे भोजन शक्ति तथा सौन्दर्य और प्रसन्नता देते हैं । बुद्ध का तर्क है कि ब्राह्मणों ने इन बातों का अनुभव किया था और इसीलिए वे गायों को नहीं मारते थे ।[11]

इस प्रकार पशुबलि को गौतम बुद्ध ने स्पष्टतः रोक दिया जिससे कृषि कार्य के लिए हल जोतने के बैलों की पर्याप्त संख्या मिलने लगी । खेत जोतने के लिए लोहे के फाल की भी आवश्यकता थी जो इस समय के आस-पास लुहारों द्वारा बहुतायत से तथा व्यवस्थित तरीके से निर्मित किया जाने लगा। मगध तथा उसके आस-पास का क्षेत्र नगरीकरण, व्यवस्थित कृषि कार्य और वाणिज्य-व्यापार में

११- यथा माता पिता अञ्ञे वापि च ञातका गावो नो परमामित्ता यासु जायन्ति ओसधा,अन्नदा,बलदा चेता वन्नरा सुखदा तथा एतमथवसम् जत्वा नास्सु गावो हनिम्सु ते - सुत्तनिपात(वाराणसी संस्करण) ब्राह्मण धाम्मिक सुत्तन,१२(पृष्ठ ७४)

लगे हुए लोगों का समाज था । इस समय वही धर्म अधिक महत्व प्राप्त कर सकता था जो इन नवीन आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप हो। बौद्ध धर्म का आकर्षण यह था कि वह तत्कालीन सामाजिक विकास तथा उत्तर-भारत विशेषकर वर्तमान उत्तर-प्रदेश और बिहार में विकसित हो रहे नगरीय संस्कृति द्वारा उत्पन्न की गयी चुनौतियों के समाधान को अपने में सजोये हुए था । जन सामान्य के लोग इस धर्म को अपने अनुरूप पाये । उन्होनें बौद्ध-भिक्षु संघो को अपने उत्पादन का एक हिस्सा दिया जिससे उनका भरण-पोषण हो सके ।

नयी उभरती राजशाही व्यवस्था ने भी बौद्ध धर्म को अपने अनुरूप पाया । प्रो० रामशरण शर्मा लिखते हैं -

लोहे के हथियारों के प्रयोग से सैन्य सामग्री में एक क्रान्ती आ गयी तथा पुरोहितों की तुलना में योद्धाओं का राजनीतिक महत्व बढ़ गया । स्वाभाविक रूप से वे अन्य क्षेत्रों में समानता की स्थिति का दावा करने लगे । अनेक ग्रन्थों में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के हितो के मध्य संघर्ष स्पष्ट है । गौतम तथा महावीर की क्षत्रियोत्पत्ति की यह आंशिक रूप से व्याख्या करता है और इस तथ्य को भी स्पष्ट करता है कि प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ क्षत्रियों को पहला तथा ब्राह्मणों को दूसरा स्थान क्यों प्रदान करते हैं । करों के नियमित भुगतान द्वारा ही क्षत्रिय राजा सम्पोषित हो सकते थे। बुद्ध के काल के बौद्ध तथा ब्राह्मण दोनो ग्रन्थ इस

आधार पर कृषकों के उत्पाद में राज्यअंश को उचित ठहराते हैं कि राजा लोगों को संरक्षण प्रदान करता है परन्तु बौद्ध धर्मगृहीत ग्रन्थ दीघनिकाय ऐसा प्राचीनतम भारतीय स्त्रोत प्रतीत होता है जो क्षत्रिय शासकवर्ग की उत्पत्ति के लिए तर्कयुक्त औचित्य प्रतिपादन करता है ।[12]

इस प्रकार निष्कर्ष रुप में हम यह कह सकते हैं कि बहुजन द्वारा अपनाया जाने वाला धर्म बौद्ध धर्म ही था जिसके लिए तत्कालीन सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक विचार दर्शन और तत्प्रसूत सामाजिक परिवेश था।

---------::---------

१२- शर्मा,श्री रामशरण, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ १९९७ - पृष्ठ-१७८

तृतीय अध्याय

वेदोत्तर कालीन समाज

वेदोत्तर कालीन समाज

वेदोत्तर कालीन समाज से तात्पर्य उस समाज से है जो ईसापूर्व छठी शताब्दी के सामाजिक बिम्ब को प्रस्तुत करता है । वैदिक काल भी अपने आप में किसी एक प्रकार के समाज को नहीं प्रस्तुत करता है । इसी प्रकार न तो वेदोत्तर काल का समाज सर्वथा वैदिक कालीन समाज से भिन्न रुप को ही प्रकट करता है । वैदिक समाज और वेदोत्तर समाज सर्वथा विपरीत नहीं हैं बल्कि सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास एवं आवश्यकतानुसार सुधार की स्वाभाविक परिणति को दर्शाने वाले समाज को द्योतित करते हैं ।

वैदिक समाज का भी दो भागों में विभाजन किया गया है-प्रथम ऋगवैदिक समाज तथा द्वितीय उत्तरवैदिक समाज । ऋगवैदिक समाज जहाँ पूर्णतः इहलौकिक भौतिक उन्नति तथा सुखों पर बल देने वाला स्वर्गकामी विचार धारा से अनुप्राणित समाज था वहीं उत्तरवैदिक समाज आरण्यक जीवन तथा दर्शन से सराबोर मोक्षकामी समाज था। प्रथम जहाँ कर्मकाण्ड में अतिशय विश्वास करता था वहीं दूसरा इसे हेय तथा मोक्ष के लिए बाधक मानता था । फिर भी वैदिक काल से उत्तर वैदिक काल की तरफ का गमन स्वाभाविक तथा पूर्व वैदिक कालीन समाज की सोच का क्रमिक विकास माना जा सकता है । ठीक इसी प्रकार से वेदोत्तर कालीन समाज वैदिक समाज की विशेषताओं को

अपने में समाहित किए हुए परन्तु उसमें सुधार की भावनाओं से अनुप्राणित था ।

वेदोत्तर कालीन समाज वैदिक साहित्य के जटिलताओं से मुक्त परन्तु उससे संपृक्त सूत्रकालीन सभ्यता तथा बौद्ध एवं जैन धर्म की जीवन्तता को अभिव्यक्त करने वाला समाज था । इस समय पुरोहितों का भी वर्चस्व था तथा वर्णाश्रम व्यवस्था समाज में पूर्णतः विद्यमान थी । रक्त की शुद्धता पर आश्रित अनुलोम विवाह किंचित शिथिलता को प्राप्त कर रहा था । ऐसी स्थिति में भी ब्राह्मणों की सामाजिक प्रतिष्ठा पर्याप्त थी । उन्हें विविध प्रकार के करों तथा दण्डों से मुक्त घोषित किया गया था । प्रशासन में पुरोहित का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया तथा उसे राजा से भी ऊपर बताया गया । गौतम के अनुसार राजा अन्य सभी वर्गो का शासक होता है किन्तु वह ब्राह्मण वर्ग का शासक नहीं है । आपस्तम्ब ने दस वर्ष के ब्राह्मण को सौ वर्ष के क्षत्रिय से श्रेष्ठतर बताया है । ब्राह्मण का मुख्य कार्य अध्ययन,अध्यापन,यज्ञ-याजन तथा प्रतिग्रह था; किन्तु विषम परिस्थितियों में वह अन्य वर्णों की वृत्ति को भी अपना सकता था । राजन्य(क्षत्रिय) वर्ण का प्रमुख कर्तव्य युद्ध तथा शासन करना था । सामाजिक प्रस्थिति में तृतीय स्थान वैश्यों का था । इनकी जीवन वृत्ति का साधन कृषि कार्य, पशुपालन तथा व्यापार था । चतुर्थ पायदान पर शूद्रवर्ण के लोग थे, जिनका कार्य अन्य वर्णो की सेवा के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करना था । शूद्रों में ही कुछ नितान्त अस्पृश्य

चाण्डाल थे । वर्ण-व्यवस्था कर्म के स्थान पर जन्म द्वारा निर्धारित होने लगी थी । इस तरह से वर्णों ने जातिव्यवस्था का जनन एवं पोषण करना आरम्भ कर दिया था ।

वर्णेतर विवाहों के प्रचलन ने समाज में विविध वर्णशंकर जातियों को आविर्भूत किया यथा अम्बष्ठ, आंयोगव, उग्र, निषाद, रथकार, सूत, वेण, धीवर, चाण्डाल, मैत्रेयक, मलेच्छ, पुलिन्द, भील, डोम आदि शूद्रों में कुछ नगर में रहने वाले थे, जो अस्पृश्य नहीं माने जाते थे जबकि अनिर्वासित अर्थात नगर की सीमा से बाहर रहने वाले वे शूद्र थे जो चाण्डाल कहे जाते थे तथा जिनका सड़कों पर आना तक बिना सूचना के नहीं होता था । ये नितान्त अस्पृश्य थे।

समाज में मुख्यतः संयुक्त परिवार की प्रथा थी सबसे वरिष्ठ विवाहित सदस्य परिवार का स्वामी होता था । परिवार में पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों को अधिक महत्व प्राप्त था ।

समाज में वैज्ञानिकता तथा तार्किक चिन्तान को महत्व प्राप्त हो रहा था इसी कारण इस समय वैदिक साहित्य का संशोधित रूप सूत्रग्रंथो के रूप में प्रचलन में आया । बौद्ध तथा जैन धर्म जैसे तार्किक तथा वैज्ञानिक धर्म महत्व को प्राप्त किये। नास्तिक दर्शन भी समाज में अपना अस्तित्व बनाये हुए थे। चार्वाक जैसे व्यक्ति की भौतिक विचारधारा भी प्रचलित थी। यद्यपि इस दर्शन का व्यवस्थित प्रचार-प्रसार हमें नहीं मिलता है। फिर भी इसकी

अद्यावधि प्रचलित जीवन्तता इसके समाज में प्रचलन को सिद्ध करती है।

धर्म दर्शन तथा सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन उत्तरवैदिक काल के अन्तिम चरण में दृष्टिगत होने लगा था। समाज कबिलाई संस्कृति से व्यापारिक संस्कृति की तरफ तथा ग्रामीण समाज से व्यवस्थित नगरीय समाज की तरफ द्रुतगति से अग्रसर हो रहा था। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय व्यावहारिक धरातल पर समानता की स्थिति प्राप्त कर रहे थे। यदि यह कहा जाये की क्षत्रिय प्रथम स्थान की तरफ बढ़ रहे थे तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी। बौद्ध-ग्रंथो का अवलोकन इस बात को पर्याप्तरुपेण पुष्ट करता है। परिवर्तित वैदिक युग का किसान उतना अनाज नहीं पैदा करता था जिससे शहरों और व्यापारियों का पोषण हो सके। परन्तु यह विशेषता छठी शताव्दी ईसा पूर्व की धार्मिक क्रान्तियों-बौद्ध तथा जैन धर्म द्वारा निर्मित वातावरण-के परिणाम स्वरूप समाज में मिलने लगी कृषक उतना उत्पन्न करने लगे जिससे नगरीय पराश्रयी समाज तथा मठवासी संन्यॉसियों एवं परिव्राजकों का सफलता पूर्वक पोषण होने लगा। समाज अब पूर्णतया वर्णाधारित तथा उत्तर वैदिक कालीन जटिलताओं में जकड़ा हुआ नहीं रह गया था। लकड़ी के फाल से की जाने वाली खेती और अन्धाधुन्ध पशुओं की हत्या करने वाली बलि प्रथा के स्थान पर लोहे के फाल से की जानी वाली खेती और पशुओं की रक्षा करने वाली विचार सरणी जनता में प्रचलित हो रही थी। उत्तर भारत के पूर्वी उत्तर-प्रदेश तथा

बिहार का गांगेयक्षेत्र धार्मिक सुधार आन्दोलन तथा तत्प्रसूत अधिशेष उत्पादन-जन्य नगरीकरण का जनन कर रहा था। इसी काल का लोहे का फाल एटा जिले में उत्खनन में मिला है। अब कृषक पहले से अच्छे उपकरणों-कुल्हाड़ी, दरांती, हसियाँ आदि का प्रयोग करने लगे थे।

इस काल में शिल्पों की भी बहुत उन्नति हुयी, अलग-अलग शिल्प अलग-अलग गाँवों में उन्नति कर रहें थे। इन शिल्पियों की अपनी स्वतन्त्र और पृथक श्रेणियां भी थीं। लुहारों, बढ़इयों, मीनाकारी करने वालों, जुलाहों तथा चित्रकारों और मालियों की श्रेणियों का उल्लेख बहुशः प्राप्त होता है। ''लुहारों, कुम्हारो, ग्वालों, नाईयों, धेबियों ने अपनी पृथक्-पृथक् जातियां बनाली थीं।''[1] इस काल में मुद्रा प्रणाली के प्रचलन का आरम्भ हो रहा था। धातु के बने सिक्कों का प्रचलन लगभग पाँच सौ ईसवी पूर्व में आरम्भ हुआ। इन्हें आहत सिक्के कहते हैं। नयी कृषि प्रणाली तथा मुद्रा प्रणाली के प्रचलन नगरीय जीवन तो तीव्र गति से विकास कर रहा था किन्तु जन साधारण की आर्थिक दशा में विशेष सुधार नहीं दृष्टिगत हो रहा था।

वेदोत्तर कालीन ईसा पूर्व छठी शताब्दी का समाज पुरातात्विक दृष्टि से उत्तरीकाले पालिशदार बर्तन

१- ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास १९९६, पृष्ठ - २१ ।

(N. B. P. W) के प्रयोगकर्ताओं का काल था। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में अवस्थित अनेक स्थलों से इस कोटि के बर्तन पाये गये हैं।

वेदोत्तर कालीन, विवेच्यकाल खण्ड में वर्ण व्यवस्था के साथ-साथ आश्रय-व्यवस्था संस्कार तथा पुरुषार्थ चतुष्टय को मानने वाले समाज का दर्शन प्राप्त होता है। बौद्ध-धर्म तथा तत्कालीन आर्थिक परिवर्तन ने समाज के निम्न लोगों की प्रस्थिति को ऊँचा किया । शूद्र भी यदि सच्चरित्र हो तो बौद्ध संघ का सदस्य हो सकता था।

परिवार एवं विवाह

परिवार अथवा कुटुम्ब का अस्तित्व सम्भवतः सृष्टि के आरम्भ से ही है; क्योंकि कम से कम दो व्यक्तियों के मिलने पर ही सृष्टि का विकास सम्भव है। परिवार में बच्चा जन्म लेता हैं, बड़ा होता है, सामाजिकता का विकास करता है और विविध परम्पराओं से युक्त होता है। मैकाइवर और पेज नामक समाज शास्त्रियों ने लिखा है कि सर्वव्यापकता अथवा सार्वभौमिकता सीमित आकार, भावनात्मक आधार क्रियात्मक आधार, सामाजिक संरचना में केन्द्रीय स्थिति, सदस्यों का असीमित उत्तरदायित्व, सामाजिक संगठन का आधार तथा परिवार का स्थायी तथा अस्थायी स्वभाव इसकी आठ विशेषताएँ हैं।[2]

जो भी हो विवेच्यकाल में सयुंक्त

२- मैकाइवर एण्ड पेज, सोसाइटी पृष्ठ - २४०-४१ ।

परिवार की प्रथा थी। अधिकाधिक सन्तान को जन्म देना उचित माना जाता था । परिवार का मुखिया परिवार के सुख शान्ति के लिए पूर्णतया उत्तरदायी माना जाता था। पिता का अपनी सन्तानों पर पूर्ण अधिकार होता था। गृह्य-सूत्रों में बड़े-बड़े परिवारों का उल्लेख है। परिवार का गृहपति या श्रेष्ठ व्यक्ति अतिथियों और पारिवारिक सदस्यों के भोजन कर लेने के पश्चात् भोजन करता था। एक परिवार में प्रायः तीन पीढ़ी के लोग आसानी से रहते थे। सभी सदस्य गृहस्वामी की आज्ञा का पालन करते थे। बौधायन धर्म सूत्र तथा गौतम धर्म सूत्र दोनों में उल्लेख मिलता है कि परिवार में छोटे और बड़े की मर्यादा का ध्यान रखा जाता था। कन्या का अपेक्षा पुत्र का होना आह्लादकारी माना जाता था।[3] बौद्ध-ग्रन्थों में ऐसे परिवारों का उल्लेख है जिनके सदस्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार पिता आदि को दुःखी छोड़कर बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये थे तथा सम्पत्ति में से अपना अधिकार स्वंय अवरुद्ध कर लिया था। कभी-कभी स्त्रियॉं भी बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर लेती थीं और परिवारों से दूर संधारामों में निवास करती थीं। स्मृतिकारों ने संयुक्त परिवार का विशद् चित्रण किया है। उनके द्वारा परिवार के अन्यान्य सदस्यों की असंतुष्टता के कारण विघटन और विभाजन का उल्लेख किया गया है नारद ने क्रोधी, विषयी और शास्त्र-विरुद्ध आचरण करने वाले पिता से

३- बौधायन धर्म सूत्र, २.५०-६०, गौतम धर्म सूत्र १२१.१-१०

सम्पत्ति को बँटवाने का निर्देश दिया है।[4]

विवाह

वंश, कुल और परिवार की निरन्तरता बनाये रखने के लिए विवाह नामक संस्था का उदय हुआ। यह एक धार्मिक तथा सामाजिक बन्धन है जो स्त्री और पुरुष को कुछ विशेष नियम और विधि के अर्न्तगत यौन संबध स्थापित करने का अधिकार देता है। सामान्यतया ईसा पूर्व छठी शताब्दी में विवाह अपनी जाति में ही किये जाते थे; लेकिन अन्तर्जातीय विवाह भी देखने को मिलते थे। अन्तर्जातीय विवाह भी दो प्रकार के होते थे एक अनुलोम तथा दूसरे प्रतिलोम । अनुलोम विवाह में उच्च्व जाति या वर्ण का पुरूष होता था तथा निम्न जाति या वर्ण की स्त्री । प्रतिलोम विवाह में उच्च्व वर्ण या जाति की कन्या होती थी और निम्न जाति या वर्ण का वर। प्रतिलोम की अपेक्षा अनुलोम विवाह को वरीयता दी जाती थी। लेकिन चलन दोनों का ही था। ध्यातव्य है कि प्रचलन में होने के बावजूद जन सामान्य प्रायः अपने ही वर्ण या जाति मे विवाह करता था। अन्तर्जातीय विवाह पर कठोर नियन्त्रण था । जातिगत आधार पर होने वाले विवाह के अतिरिक्त पारिवारिक स्वीकृति तथा वर एवं वधू की सहमति को दृष्टिगत करते हुए विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख तत्कालीन ग्रंथों में प्राप्त होता है ।

४- नारद स्मृति , १६/१६

वे हैं - ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच।

(१) ब्राह्म विवाह

ब्राह्म-विवाह के सम्बन्ध में आपस्तम्ब का कथन है कि ब्राह्म विवाह में वर के कुल आचरण तथा धर्म के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर यथाशक्ति कन्या को आभूषणों से अलंकृत कर प्रजा का उत्पत्ति तथा एक साथ धर्म करने के प्रयोजन से कन्यादान किया जाता है।[5]

(२) दैव विवाह

इस विवाह में पिता कन्या को किसी ऐसे ऋत्विज को प्रदान करता था जो श्रौत यज्ञ करा रहा होता है। अतः विवाह के लिए कन्या पक्ष के ब्राह्मण ऐसे यज्ञीय ब्राह्मण की अपेक्षा करते थे उसे दक्षिणा के रूप में कन्या प्रदान करते थे। प्रायः दोनों पक्षों में याज्ञिक क्रियाओं के उत्साही समर्थक हुआ करते थे।

(३) आर्ष विवाह

जब कन्या का पिता धर्म कार्य की सिद्धि के लिए वर से एक बैल और एक गाय अथवा इनकी दो जोड़ी लेकर सविधि कन्यादान करता था, तब वह आर्ष विवाह कहलाता था।

(४) प्राजापत्य विवाह

इस विवाह-प्रकार के अन्तर्गत वर की

५- आ० ध० सू०, २.१७

विधिपूर्वक पूजा करके कन्या का दान किया जाता था तथा वर वधु को यह निर्देश दिया जाता था कि गृहस्थ जीवन में दोनों मिलकर जीवन पर्यन्त धर्माचरण करे।[6] 'प्रजापति' शब्द से 'प्राजापत्य' बना है; जो इस बात का प्रमाण है कि वर-वधु प्रजापति के प्रति अपने ऋण अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने और उसके पालन-पोषण के उत्तरदायित्व का भली प्रकार से निर्वाह करने में रूचि लें।

(५) आसुर विवाह

जब कन्या के माता-पिता कन्या प्रदान करने के बदले में वर से धन लेते हैं तो यह आसुर विवाह कहा जाता है। आर्ष और आसुर विवाह में अन्तर यह था कि आर्ष विवाह में परम्परा के अनुसार गाय-बैल का जोड़ा प्रदान किया जाता था किन्तु आसुर विवाह में कन्या पक्ष को कन्या का मूल्य धन के रूप में चुकाया जाता था । वस्तुतः इस विवाह प्रणाली में कन्या खरीदी जाती है।

(६) राक्षस विवाह

शक्ति या बल-प्रयोग द्वारा युद्व और संघर्ष के माध्यम से किसी कन्या का अपहरण किया जाता था, इसमें कपट और बल-प्रयोग से कन्या का अपहरण किया जाता था, इसलिए इसे राक्षस विवाह कहा गया है मनु के अनुसार कन्या पक्ष वालों को मारकर अथवा घायल करके,

---

६ - मनुस्मृति, ३.३०, सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचादनुभाष्य च। कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यों विधि स्मृतः।।;

गृह के द्वार आदि को तोड़कर तथा रोती-चिल्लाती कन्या का बलात् हरण करके लाना राक्षस विवाह है।[7]

(७) पैशाच विवाह

यह विवाह अत्यन्त निन्दनीय और गर्हित माना जाता रहा है। सोती हुई, मदहोश उन्मत्त, मदिरापान की हुई अथवा मार्ग में जाती हुई कन्या को जब व्यक्ति कामयुक्त होकर अपनाता है तब वह विवाह-पैशाच विवाह कहा जाता है।[8]

जहाँ तक विवाह की आयु का प्रश्न है, उसके लिए विविध ग्रंथों के अवलोकन से यही निष्कर्ष निकलता है कि वयस्क तथा अवयस्क दोनों प्रकार के विवाह प्रचलन में थे। गृह्य सूत्रों में चतुर्थीकर्म का उल्लेख है जिसका मतलब होता है कि विवाह संस्कार के चौथे दिन पति तथा पत्नी सहवास करते थे। इससे यह संकेत मिलता है कि दोनों वयस्क होते थे।[9] परन्तु गोभिल गृह्यसूत्र, हिरण्यकेशिन गृह्यसूत्र आदि कुछ ऐसे ग्रन्थ है। जिनमें 'नग्निका' का उल्लेख प्राप्त होता है यह नग्निका वह कन्या होती थी, जिसका यौवनारम्भ अभी आरम्भ नहीं हुआ होता था।

७- मनुस्मृति, ३.३३,''हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्ती रूदती गृहात्। प्रसह्य कन्या हरणं राक्षसो विधिरूच्यते।।''

८- मनुस्मृति, ३.३२१, सुप्तां मतां प्रमतां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठों विवाहानां पैशाचाष्टमोडधमः।।

६- आपस्तम्ब गृहासूत्र ३,७,८, ।शांखायन गृहासूत्र १,१७,५।

बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार पिता को अपनी पुत्री का विवाह नग्निका होने के पूर्व ही कर लेना चााहिए। तात्पर्य यह कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जब बुद्ध तथा जैन प्रचलित हिन्दू धर्म (सनातनधर्म) की कुरीतियों पर प्रहार कर धार्मिक क्रान्ति ला रहे थे तब उत्तरी-भारत में सामन्यतः बाल विवाह और वयस्क विवाह दोनों प्रचलन में थे।

वर्ण एवं जाति तथा उनके विशेषाधिकार

वर्ण एवं जाति दो शब्द हैं जो कालान्तर में एक ही अर्थ में तथा एक ही प्रकार--जन्म से निर्धारित होने लगे। जब कि वर्ण एवं जाति में पर्याप्त अन्तर है। वर्ण, कर्म पर अधारित व्यवस्था को द्योतित करता है।[10] जाति जन्म पर आधारित व्यवस्था को अभिव्यक्त करती है।

वर्ण व्यवस्था का उल्लेख ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में सर्वप्रथम मिलता है लेकिन इसका पूर्ण प्रचलन उत्तर-वैदिक काल में ही हो पाया था। स्थापित वर्णो की संख्या-चार है- बाह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र।

श्रीमद्‌भगवद्‌ गीता के अठारहवें अध्याय में लिखा है-

बाह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैगुणैः ।।[11]

१०- चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः श्रीमद्‌भगवदगीता २१-१३।
११- श्रीमद्‌भगवद्‌गीता १८/४१ ।

अर्थात् स्वाभाविक गुण और कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों का विभाजन किया गया था। इन चारों वर्णों में ब्राह्मणों का स्थान निम्न माना गया था।

इनका पृथक्-पृथक् वर्णन निम्नवत प्रस्तुत है-

ब्राह्मण

वर्ण व्यवस्था के क्रम में इनका स्थान सर्वोच्च था इनका स्वाभाविक कर्म था वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, दान देना, तथा दान लेना। श्रीमद्भगवद् गीता में उल्लेख है कि शम, दम, तपश्चर्या, शुचिता, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान तथा अस्तिक्य अर्थात आस्तिक भाव ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक गुण हैं -

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रहमकर्म स्वभावजम् ।।

ब्राह्मणों को समाज में अनेक सुविधाएँ प्राप्त थी वह पुरोहित के रूप में राजा को महत्वपूर्ण परामर्श देता था। वह अबध्य होता था उसे दण्ड देते समय भी अन्य वर्णो की अपेक्षा कम दण्ड दिया जाता था। दान लेने का अधिकार एक मात्र उसे ही था। यज्ञ की बची सामग्री भी उसे ही प्राप्त होती थी । उसके धन को राजा भी नहीं ग्रहण कर सकता था।[13] आपात् काल में ब्राह्मण वर्णेतर कर्म भी कर सकता था।

१३- गौतम धर्म सूत्र १४/१/२।।

क्षत्रिय

क्षत्रियों की स्थिति समाज में ब्राहमणों के बाद दूसरी थी। इनका मुख्य कार्य अध्ययन करना, यज्ञ करना, शस्त्र धारण करना तथा समाज में विद्यमान सभी लोगों की रक्षा करना था। श्रीमद्‌भगवद में लिखा है-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलसयनम् ।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।[14]

अर्थात शूरता, तेजस्विता, धीरता, दक्षता युद्ध से पलायन न करना, दान कर्म करने का भाव, स्वामी का भाव ये क्षत्रिय वर्ण के स्वभाविक कर्म हैं।

वस्तुतः क्षत्रिय का मूल कर्त्तव्य आवश्यकतानुसार युद्ध करना, समाज में कानून एवं व्यवस्था बनाये रखना घोषित था। राजा प्रायः इसी वर्ण का होता था। युद्ध में विजित सामग्री पर क्षत्रिय वर्ण का ही अधिकार था। आपात् काल में इन्हें भी अपने से निम्न वर्णो के कार्य करने की छूट थी।

वैश्य

वैश्यों का कार्य कृषि कर्म, पशुपालन वस्तुओं का व्यापार, उद्योग-धन्धों में लिप्त रहना तथा दान करना आदि था। श्रीमद्‌भगवद गीता के अनुसार ''कृषिगौरक्ष वाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्।'' आर्थिक समृद्धि के लिए वैश्य यज्ञों का आयोजन करते थे। राजा को कर देते थे। वैश्य वर्ण

१४- श्रीमद्‌भगवदगीता १८/४३ ।

को समाज में तृतीय स्थान प्राप्त था। बौधायन ने वैश्यों की अवस्था शूद्रों के समकक्ष बतायी है। आपात् काल में वैश्य को भी वर्णेतर कर्म करने की छूट थी। वह गाय, ब्राह्मण तथा अपने वर्ण की रक्षा के लिए शस्त्र भी धारण कर सकता था।[15]

शूद्र

समाज में इस वर्ण की स्थिति सबसे नीची थी। इनकी तुलना शरीर के पैरों से की जाती थी। माना जाता था कि जिस प्रकार पूरे शरीर का भार नीचे रहकर पैर ढोता है उसी प्रकार शूद्रों को शेष तीन वर्णों का सेवा का भार नीचे रहकर वहन करना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता के १८ वें अध्याय में वर्णित है-

''परिचार्यात्मकं कर्म शुद्रस्यापि स्वभाव जम्।''[16]

मनु के अनुसार भी तीन वर्णों की सेवा करना ही इनका एक मात्र कार्य था। इनका कोई अपना धन नहीं होता था, सेवा के बदले में उन्हें जीविका प्राप्त होती थी।

वर्णों की उपर्युक्त व्यवस्था उत्तर-वैदिक परम्परा तथा शास्त्रों एवं स्मृतियों में वर्णित साक्ष्यों के अनुसार है इनमे सामाजिक परिवर्तन होते रहे।

१५- बौधायन धर्म सूत्र २/२/२०।

१६- श्रीमद्भगवद् गीता १८/४४।।

बौद्ध धर्म ग्रंथो में क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों से ऊपर माना गया है ''दीघ निकाय के अम्बर सुत्त में लिखा है कि अम्बट ब्राह्मण ने यह दावा किया है कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ब्राह्मण के सेवक हैं। इस प्रसंग में बुद्ध ने यह दावा किया कि क्षत्रिय उच्चतर हैं और ब्राह्मण उससे निम्न । अस्सलायन सुत्त में स्पष्ट रूप से यह मत व्यक्त किया गया है कि उच्चता का आधार धर्मग्रन्थों का ज्ञान है न कि जन्म ।''[17]

ईसा पूर्व छठी शताब्दी की धार्मिक क्रान्तियों का कृषि-अर्थव्यवस्था तथा व्यापारिक उन्नति पर प्रभाव पर्याप्त रूप से पड़ा था। इसका प्रभाव समाजिक व्यवस्था पर भी पड़ा । खेती और दस्तकारी मे लोहे के प्रयोग ने सामाजिक जीवन को स्थायित्व प्रदान किया। लोहे की कुल्हाड़ी से सफाई होते ही पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा उससे सटे हुए बिहार के एक बड़े भारी गांगेय क्षेत्र में नगरीय जीवन विकसित हुआ । एक विस्तृत उपजाऊ क्षेत्र मानवीय आबादी के लिए तैयार हो गया। इसके परिणाम स्वरुप शूद्र तथा वैश्यों की स्थिति पहले से अच्छी हुई ब्राह्मण और क्षत्रिय भी अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ किये। फिर भी वैश्यों की स्थिति बौद्ध-धर्म एवं संघ व्यवस्था में अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़ हुयी। व्यापरियों एवं शिल्पियों में बौद्ध धर्म बहुत ही लोकप्रिय हुआ।

१७- ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास १९९६ पृष्ठ - ५६ ।

जाति

जन्म के अनुसार अस्तित्व अर्थ में जन् धातु से क्तिन् प्रत्यय करके जाति शब्द निष्पन्न हुआ है। इस अर्थ में वर्ण भी जब गुण और कर्म के आधार पर न निर्धारित होकर जन्म के आधार पर निर्धारित होने लगे तब वे भी जाति का ही रुप ले लिये। जाति-व्यवस्था रक्त की शुद्वता और जन्मजात उच्चता तथा हीनता में विश्वास करती है। इसे भली-भाँति समझने के लिए इसकी विशेषताओं पर दृष्टिपात अपेक्षित है। इसकी कतिपय विशिष्टताओं को निम्नवत् व्यक्त किया जा सकता है :-

१- किसी व्यक्ति की जाति जन्मना निर्धारित होती है।

२- एक जाति का सदस्य विवाह स्वजाति में ही करता है।

३- सामान्यतया प्रत्येक जाति के लोग कुछ परम्परागत व्यवसायों को करते हैं। यथा बढ़ई द्वारा काष्ठ का कार्य, लुहार द्वारा लोहे का कार्य तथा कुम्भकार द्वारा मिट्टी के बर्तनों का कार्य आदि।

४- जातियों में ऊँच-नीच का स्तरीकरण दृष्टिगत होता है।

५- प्रत्येक जाति के अपने आचार-विचार के निश्चित नियम होते हैं।

६- जाति के नियमों को तोड़ने पर जाति से वहिष्कृत करने का प्रावधान भी होता है।

उपर्युक्त विशेषताएँ जाति को सामान्यरूप से परिभाषित करने के लिए प्रस्तुत की गयी हैं। समय के साथ जाति से इतर व्यवसाय करने तथा विवाह

करने पर भी व्यक्ति अपनी ही जाति में बने रहने लगे। इस प्रकार जाति का मूल आधार जन्म ही बना रहा।

ईसा-पूर्व छठ़ी शताब्दी में जातियों की प्रस्थिति तथा उनके विशेषाधिकार

इस काल में वर्ण जातियों में परिवर्तित होने लगे थे। साथ ही कर्म तथा पेशे के आधार पर भी कई जातियाँ बन गयी थीं। उदाहरण के लिए ब्राह्मणों में ही 'ब्रह्मसम' वे ब्राह्मण थे। जो ब्रह्म में लीन रहते थे 'संभिन्न मरियाद' वे ब्राह्मण थे। जो जाति नियमों का पालन नहीं करते थे, 'ब्रह्म चाण्डाल' वे ब्राह्मण थे जो चाण्डालों के समान आचरण करते थे । बौधयन के अनुसार अम्बष्ठ ब्राह्मण पुरूष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न संतानो की जाति थी। इन्ही के अनुसार आयोगव जाति की उत्पत्ति वैश्य पुरूष और क्षत्रिय स्त्री से हुई थी ।[18]

विवेच्य काल मे ब्राह्मण और क्षत्रिय लगभग बराबर की प्रस्थिति को प्राप्त कर रहे थे। जातियों का रूप धारण कर ये अपनी उच्चता को बनाये रखे थे । सूत्र ग्रंथ जहाँ ब्राह्मणों को श्रेष्ठ मानते थे वहीं बुद्ध तथा जैन क्षत्रियों को प्रथम स्थान देते थे । इसका कारण सम्भवतः यह था कि दोनो के मुख्य प्रवर्तक क्रमशः गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी क्षत्रिय तथा महावीर जन्म से जाति के जाति मे उत्पन हुए थे । यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि बुद्ध समर्थक न थे परन्तु कर्म के आधार पर जाति या वर्ण निर्धारित करने

१८- बौधायन धर्मसूत्र १-६-७

में वे पूर्णतया सफल न हो सके । हॉ यह सत्य है कि वैश्यों की स्थिति गिर रही थी जिसे बौद्ध धर्म तथा उसके प्रभाव से पोषित व्यापारियों की समाज में नितान्त आवश्यकता ने उनकी स्थिति मे सुधार किया । बौद्ध ग्रंथो में वैश्यों के लिए अधिकतर 'ग्रहपति' शब्द का प्रयोग किया गया है । समस्त उद्योगों और व्यापार पर उनका पूर्ण प्रभुत्व था । सम्पन्न होने के कारण कुछ गृहपति भी अपने बालकों को ब्राहमण और क्षत्रिय बालकों के साथ शिक्षा प्राप्त करने भेज देते थे। धनी गृहपति सेठ्ठि कहलाते थे किंतु जो निर्धन हो जाते थे वे दर्जी का व्यवसाय करके अपना निर्वाह करते थे । जो गृहपति निर्धन हो जाते थे वे अन्य व्यक्तियों की नौकरी करके या शाक-फल बेचकर अपना निर्वाह करते थे किंतु वे अपनी जाति से निकाले जाते थे।

भौतिक अभ्युन्नति तथा कृषि एवं नगरीकरण के विकास ने वर्णों की तरह जातियों को भी पुनर्व्यवस्थित किया । बाड़े से धिरे ग्राम के चारों तरफ खेत और चरागाह तथा उनके पार बंजर भूमि और जंगल होते थे। जगंल राजा की सम्पत्ति थे और वही कृषि के लिए उनकी सफाई करने की अनुमति दे सकता था। चूँकि सैद्धान्तिक रूप से भूमि राजा की सम्पत्ति थी, इसलिए उसके द्वारा कर के रूप में पैदावार का एक निश्चित प्रतिशत-सामान्यतः छठा भाग-लिए जाने का औचित्य सिद्ध होता था। निजी रूप से अधिकृत भूमि को छोड़कर, जहॉ मजूरी लोगों से काम कराया जाता था, खेती का काम शूद्र

करते थे। परन्तु भूमि पर निजी स्वामित्व अधिक व्यापक नहीं था जब राजा को राज्य प्रतीक माना जाने लगा, तो यह संभाव्य है कि इसी प्रकार वह भूमि का स्वामी भी माना जाने लगा हो। धीरे-धीरे राजा तथा राज्य के बीच अन्तर अस्पष्ट हाने के साथ राजा के स्वामित्व के दावे पर कोई गंभीर आपत्ति नहीं उठाई गई।

कृषि का विकास अधिकतर शूद्र कृषकों पर निर्भर था, जो वनों को साफ करते थे। इस तथ्य के कारण कि इनमें से अनेक भूमिहीन मजदूर थे, इनकी स्थिति कमजोर थी। इस युग में शूद्रो से भी निम्न एक श्रेणी अस्तित्व में आई, जो अछूत कहलाते थे। वे संभवतया आदिवासी रहे होगें, जो धीरे-धीरे आर्यों द्वारा नियन्त्रित क्षेत्रों से दूर हटकर सीमाओं पर जा बसे, जहाँ वे आखेट और भोजन संचय करके अपना जीवन-यापन करते थे। बताया जाता है कि उनकी अपनी निजी भाषा थी। जो आर्यों की बोली से भिन्न थी। सरकंडो की बुनाई और शिकार जैसे उनके व्यवसाय बहुत नीची दृष्टि से देखे जाते थे।[19]

वर्णसंकर जातियाँ

जाति की विशेषताओं में एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे अपने ही समुदाय में विवाह करने के लिए प्रतिबद्ध होती हैं। इतर जाति में विवाह जाति बन्धनों का उल्लंघन माना जाता है। फिर भी उच्च्व जाति तथा

१६- थापर रोमिला, भारत का इतिहास पृष्ठ संख्या- ४८ ।

निम्न जाति दोनों में अन्तर्जातीय विवाह होते थे। इनसे उत्पन्न संतानों अपने माता-पिता की मूल जातियों से भिन्न जातियों का निर्माण किया। इन्हें वर्णसंकर जातियों की श्रेणी में रखा गया। बौधायन के अनुसार वर्णसंकर से उत्पन्न संतान 'व्रात्य' कही जाती थी-वर्णसंकरादुत्पन्नान् व्रात्यानाहुर्मनीषिणों।[20] अन्य सूत्रकारों ने भी अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकारों के विवाहों को वर्णसंकरता का कारण माना है।

वर्णसंकर जातियो के नाम पद और व्यवसाय के सम्बन्ध में विभिन्न ग्रन्थों में समानता नहीं मिलती है। यथा 'वैदेहक' नामक वर्णसंकर जाति को बौधायन वैश्य पुरूष तथा ब्राहमण स्त्री की संतान मानते हैं वहीं पर गौतम उसे शूद्र पुरूष और क्षत्रिय स्त्री की संतान बतलाते है।

मिश्रण से बनी हुई ये वर्णसंकर जातियॉ आपस में भी ऊँच-नीच का भेद मानती थीं। यहॉ पर कुछ वर्णसंकर जातियों का उल्लेख करना समीचीन होगा-

१- अम्बष्ठ

इनका मुख्य कार्य चिकित्सा करना था प्रायः विचारकों ने इन्हें ब्राह्मण पुरूष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न माना है।[21]

२- आयोगव

ये मुख्यतः बढ़ई का काम करते थे।

२०- बौ० ध० सु० १/६/१५ ।
२१- याज्ञ १/९१/ मनु० १०/८ अभिधानचिन्तामणि ३/८९५।

गौतम ने लिखा है कि शूद्र पुरूष और वैश्य स्त्री से इनका आविर्भाव हुआ है।[22] बौधायन के अनुसार इनकी उत्पत्ति वैश्य पुरूष और क्षत्रिय स्त्री से हुई थी।[23] हेमचन्द्र के अनुसार शूद्र पुरूष और वैश्य स्त्री से आयोगव उत्पन्न हुए हैं।[24]

३- निषाद

बौधायन के अनुसार ब्राह्मण पुरूष और शूद्र स्त्री से इनकी उत्पत्ति हुई है। निषाद जाति का स्थान समाज में निम्न श्रेणी का माना गया। इनका मुख्य व्यवसाय नाव चलाना रहा है।

४- मागध

गौतम के अनुसार वैश्य पुरूष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न संतान मागध थे।[25] बारहवीं सदी के लेखक हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथ अभिधानचिन्तामणि में इन्हें वैश्य पुरूष और ब्राहमण स्त्री से उत्पन्न विवृत किया है।

वस्तुतः वर्णसंकर जातियाँ अन्तर्पर्ण विवाह से उत्पन्न जातियाँ थीं कालान्तर में विभिन्न वर्ण जन्मना निर्धारित होने लगे थे। ऐसे में वर्णों को अपने वर्ण के अन्तर्गत आंने वाले कुछ जातियों में विवाह करने की छूट थी साथ ही इसे उचित माना जाता था जैसे त्रिवेदी द्विवेदी, शुक्ल

२२- गौ० ध० सू० ४/१५।
२३- बौ० ध० सू० १/६१७।
२४- हेमचन्द्र, अभिधानचिन्तामणि ३/८६६।
२५- गौ० ध० सू० ४/१५-१६ ।

आदि का आपस मे विवाह करना संकरत्व का जनन नहीं करता लेकिन अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न विभिन्न जातियों ने आपस में भी ऊँच-नीच का संस्तरण रखा तथा इनमें जो अन्तर्जातीय विवाह हुए उनसे जातियों और उपजतियों का विशाल समुदाय खड़ा हो गया। कुक्कुटक जाति शूद्र पुरूष और निषाद स्त्री की संकरता से उत्पन्न हुए।[26] ध्यातव्य है कि निषाद भी शूद्र वर्ण के अन्तर्गत ही आते हैं। इस प्रकार वर्णान्तर्गत यह विवाह होते हुए भी निषिद्व माना गया तभी तो नयी जाति का सृजन हुआ।

चाण्डाल जाति शूद्र पुरूष और ब्राहमण स्त्री से उत्पन्न हुई।[27]

महाभारत में इसे नापित पुरूष और ब्राहमण स्त्री से उत्पन्न माना गया। यहॉ यह उल्लेखनीय है कि नितान्त निम्नतम् प्रस्थिति को प्राप्त यह जाति सर्वधर्म वहिष्कृत मानी गयी है। धर्मशास्त्रों में वर्णित है कि जिस गॉव में चाण्डाल रहता हो वहॉ अध्ययन नही करना चाहिए।[28] यहॉ पर भी ध्यान देने योग्य है कि नितान्त अस्पृश्य, अन्त्यज, नगरों में प्रवेश की वर्जना से युक्त इस जाति को उत्पन्न करने वाली स्त्री समाज की सर्वोच्च जाति ब्राहमण मानी गयी है। इससे स्पस्ट है कि जिस जाति का समाज में जितना ही ऊँचा स्थान था उस जाति की स्त्री को विवाह के

२६- मनुस्मृति १०/१८।
२७- मनुस्मृति १०/१२।
२८- बौ० ध० सू० १६/१४६, आ० ध० सू० १/३/५।

सम्बन्ध में उतनी ही वर्जनाओं से युक्त रखा गया था । चूकि शूद्र निम्नतम् वर्ण के थे तथा ब्राह्मण उच्चतम् वर्ण के फलतः यह प्रतिलोम विवाह की इयत्ता का उदाहरण था इसलिए इस विवाह से उत्पन्न संतान वर्जनाओं की इयत्ता से युक्त हुयी।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनो प्रकार के विवाहों ने संकर जातियों का जनन किया लेकिन इनमें भी प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न जातियों की समाज में स्थिति निम्न मानी गयी। प्रतिलोम जितने ही ज्यादे अन्तर से रहा उत्पन्न संतानों की सामाजिक प्रस्थिति तथा स्तर उतना ही निम्न रहा यथा सूत, क्षत्ता, चाण्डाल आदि ।

विविध जातियों ने समाज में प्राप्त प्रस्थिति के अनुसार अपने जीवन निर्वाह के लिए अलग-अलग कार्य को करना आरम्भ किया। चूँकि ये लोग सामाजिक स्तरीकरण के अनुसार एक साथ रहते थे तथा एक प्रकार के पेशे में लगे हुए थे फलतः इन्होने नवीन पेशेवर जातियों का जनन किया। कुछ पेशेवर लोग ऋग्वैदिक काल से ही अस्तित्व में थे। कुछ इस प्रकार से अस्तित्व में आये। इन पैशेवर जातियों में प्रमुख है- कुम्भकार, नापित, रजक तन्तुवाय, गान्धिक, तैतिरिक, वैद्य, कर्मकार, भारवाह, कर्मार, चित्रकार, स्वर्णकार आदि।

५-पेशेवर जातियाँ

पेशेवर जातियों की संख्या-भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इनकी संख्या क्रमशः बढ़ती गयी। ईसा

पूर्व छठी शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति के समय भी पर्याप्त मात्रा में पेशेवर जातियॉ अस्तित्व में थीं, लेकिन उसके बाद भी पेशेवर जातियों के विकास के क्रम चलते रहने के साक्ष्य मिलते हैं। यथा कायस्थ जाति का सर्वप्रथम उल्लेख याज्ञवल्क्य ने पेशे से लेखक के रूप में किया है।[29] कतिपय पेशेवर जातियों का वर्णन निम्नवत है-

स्वर्णकार- यह जाति इतिहास के आरम्भ से ही मिलती है सोने के आभूषणों तथा अन्य कार्य करने वाली यह जाति अपने पेशे के साथ अद्यावधि विद्यमान है।

चित्रकार- चित्रकारी का कार्य करने वाले लोग आज भी समाज में मिलते हैं। लेकिन एक जाति के रूप में इनका उल्लेख यशस्तिलक ने अपने ग्रन्थ शब्दानुशासन में किया है।

कर्मार अथवा लुहार - लोहे का कार्य करने वाली यह जाति वैदिक काल से लेकर अद्यावधि अपने व्यवसाय के साथ समाज में विद्यमान है। प्रस्तुत शोध ग्रन्थ के विवेच्य काल में इस जाति की अहम् भूमिका रही। लोहे के फाल, कुल्हाड़ी, दरॉती तथा अन्य खेती के उपकरणों को निर्मित कर इस जाति ने ईसा पूर्व छठी शताब्दी में आर्थिक क्रान्ति ला दिया था।

बढ़ई - लकड़ी का कार्य करने वाली यह जाति अपने अभिधान परिवर्तनों के साथ आद्यैतिहासिक काल से ही स्पष्ट रूपेण विवृत है। हड़प्पा संस्कृति की खुदाइयों, आर्यों के

२९- मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य १/३३५ कायस्थगणका: लेखकाश्च।

रथकारों के वर्णन आदि इसके अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। कृषि के कार्य में तो इनका योगदान लुहारों के पूर्व से ही रहा है। लकड़ी के हल, घास निकालने के खुर्पों के हत्थों तथा अन्य लकड़ी के घरेलू सामानों के निर्माण के साथ यह जाति अपनी व्यावसायिकता की जीवन्तता आरम्भ से आज तक बनायी हुई है।

रजक – वैदिक युग से ही यह जाति अपनी कपड़ा धोने की विशेषताओं के साथ समाज में विद्यमान है।

कुम्भकार– वैदिक युग से ही यह जाति विभिन्न प्रकार के मृद्भाण्डों का निर्माण कर रही है।

वस्तुतः समाज में अपने कार्यो के साथ विविध समुदायों ने विविध जातियों का आविर्भाव किया। सौ से अधिक जातियों का उल्लेख कई समाज शास्त्रियों तथा इतिहासकारों ने किया है।

ऋग्वैदिक काल में जाति–व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, फिर पेशेवर जातियों का क्या कहना। लेकिन उत्तरवैदिक काल में व्यवसाय के आधार पर जातियों के संगठन के संकेत मिलने लगते हैं जैसे– रथकार, चर्मकार, स्वर्णकार तथा कर्मकार आदि। बौध–साहित्य में विविध जातियों का विवरण मिलने लगता है जो व्यवसायों के आधार पर संगठित थे। ''इस समय व्यवसायों की संख्या बढ़ गयी थी। बौद्ध तथा जैन–साहित्य में विभिन्न प्रकार के व्यवसायों का विवरण प्राप्त है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी विभिन्न व्यवसायों का वर्णन मिलता है व्यवासायिक श्रेणियॉ,

जिनका विकास, वैदिक काल में ही हो चुका था इस काल में इस समय संगठित और व्यवस्थित होने लगी थीं। यही नहीं व्यावसायिक चेतना इतनी अधिक व्याप्त हो गयी थी कि कुछ गॉव एक व्यावसायिक वर्ग के निवास बन गये थे।''[30]

बौद्ध निकाय ग्रन्थों में वंश-परम्परा से चली आ रही जातियों का उल्लेख मिलता है। दीधनिकाय तथा मज्झिम निकाय के अनुसार शनैः शनैः व्यवसाय क्रमशः पैतृक होते गये जिससे समाज में अनेक जातियॉ बन गयी। तन्तुवाय, कुम्भकार, कम्मार, तच्छक (बढ़ई) जैसी शिल्प प्रधान जातियों[31] का बहुशः वर्णन मिलता है।

आश्रम व्यवस्था एवं समाज

आश्रम शब्द पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'आ' पूर्वक 'श्रम्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करके बना है। सामान्यतः इसका अर्थ अक्लान्त भाव से तपश्चर्या के लिए अरण्यों में बनी झोपड़ी है। लगभग इन्हीं अर्थो में पुरूषार्थ चतुष्टय् की प्राप्ति के लिए जीवन को व्यवस्थित करने वाली व्यवस्था 'आश्रम-व्यवस्था' के नाम से जानी जाती है। भारतीय मनीषियों ने 'जीवेम शरदः शतम्' की अवधारणा में विश्वास करते हुए पच्चीस-पच्चीस वर्षों के चार भागों में जीवनचर्या को व्यवस्थित किया, जिसे क्रमशः

३०-ईश्वरी प्रसाद, प्राचीन भारतीय संस्कृति पृष्ठ - ३२७ ।
३१-दीधनिकाय-१, पृष्ठ ५१, मज्झिमनिकाय- २ पृष्ठ - १८,४६।

ब्रहमचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के अभिधान से अभिहित किया।

ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति समय और नियम से शिक्षा ग्रहण करता था। गृहस्थ आश्रम में वह पूर्णतः सांसारिक उत्तरदायित्त्वों का निवर्हन करता था। सृष्टि का सतत् विकास इसी आश्रम की देन है। वानप्रस्थ आश्रम, गृहस्थाश्रम से विलगाव तथा संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने के मध्य की स्थिति को द्योतित करती है। संन्यास-आश्रम वार्धक्य को प्राप्त तथा तपश्चर्या में लीन अरण्यवासी मुमुक्षु की स्थिति को व्यक्त करने की स्थिति थी। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण जीवन को व्यवस्थित कर इहलौकिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए चरम लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति करने की व्यवस्था ही आश्रम-व्यवस्था थी।

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ छः सौ ईसा पूर्व से लेकर दो सौ ईसा पूर्व की गतिविधियों की विवेचना करने का प्रयास है। ऐतिहासिक अध्ययन इस बात को स्पष्ट करते हैं कि उक्त काल में आश्रम व्यवस्था आविर्भूत हो चुकी थी। यद्यपि बुद्ध ने जीवन को दुखमय बताते हुए इससे मुक्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग तथा संगठित संघीय व्यवस्था को महत्वपूर्ण माना तथापि ब्राहमण-ग्रन्थों, उपनिषदों और सूत्र-ग्रन्थों ने आश्रम-व्यवस्था के महत्व को प्रतिपादित किया। चूँकि त्रिपिटक ग्रन्थों में आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख नहीं मिलता है; इसलिए कतिपय विद्वानों ने इसका प्रचलन बुद्ध के पश्चात् का माना है फिर भी ब्रह्मचारी, गृहपति तथा यति

आदि शब्द ऋग्वेद में ही मिलने लगते हैं। यहाँ तक की एक बार ही सही मुनि शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में और जाबालोपनिषद् में चारों आश्रमों का स्पष्ट उल्लेख विवेच्य काल में इसके पूर्णतः स्थापित हो जाने को प्रमाणित करता है।[32]

चारों आश्रमों का संक्षिप्त वर्णन निम्नवत है-

ब्रह्मचर्य आश्रम

सादा जीवन एव्म उच्च विचार की भावना से ओतप्रोत् शिक्षा ग्रहण करने का कार्य आरम्भ के पच्चीस वर्ष का था। उपनयन संस्कार के अनन्तर बालक ब्रहमचर्य आश्रम में प्रवेश करता था। सांखायन ग्रहसूत्र, गोभिल ग्रह्मसूत्र तथा आपस्तम्ब आदि ग्रह्मसूत्र इस बात को प्रमाणित करते हैं। ऋग्वेद में भी ब्रह्मचारी का उल्लेख विद्यार्थी के अर्थ में मिलता है।[33] इस आश्रम में बालक अपनी इच्छा मनोभावों को नियन्त्रित करके गुरु के सान्निध्य में ज्ञान को प्राप्त करता था। धर्मसूत्रों में ब्रहमचारियों के दो प्रकारों का उल्लेख मिलता है- नैष्ठिक तथा उपकुर्वाण । नैष्ठिक ब्रहमचारी यावत् जीवन शिक्षा में लीन रहता था। वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करता था। उपकुर्वाण ब्रहमचारी वे

३२- ऐतरेय ब्राहमण, ३५/२ शतपथ ब्राहमण ब्रहमचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा बनी भवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत्।।
३३- ऋग्वेद १०/ १०९/ ४

थे जो शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे।

इस आश्रम में ज्ञान प्राप्ति और इन्द्रिय-संयम पर विशेष बल दिया जाता था। इसका प्रमुख उद्धेश्य यह था कि वह ऐसी शिक्षा प्राप्त करे जिससे गृहस्थाश्रम में देवताओं ऋषियों और पूर्वजों के ऋणों से उऋण हो सके।

गृहस्थाश्रम

पच्चीस वर्ष की आयु में ब्रहमचर्याश्रम समाप्त कर व्यक्ति गुरू-आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। विद्या समाप्ति के बाद ब्रहमचारी घर लौटता था जिसे समावर्तन कहते थे। इसके बाद वह ब्रहमचर्याश्रम के व्रतों से मुक्त होने के लिए स्नान करता था और स्नातक की उपाधि से युक्त होता था। स्नातक, विवाह करके अपनी गृहस्थी बसाता था। सांसारिक सुखों का उपभोग करता था। ऋणत्रयों से मुक्ति का प्रयास करते हुए वंशपरम्परा को अक्षुण्ण रखता था। गृहस्थ के दैनिक कर्तव्यों में पंच महायज्ञों का विशेष महत्व था।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी की बौद्ध और जैन धर्मक्रान्ति ने जनसाधारण में संसार-त्याग की भावना को दृढ़ किया। इससे वर्णाश्रम-व्यवस्था को किंचित आधात पहुँचा। अनेक व्यक्ति धर्मसंघों में प्रवेश कर संन्यस्त भाव अपनाने लगे। चाणक्य नें इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए गृहस्थ धर्म का सम्यक् निवर्हन न करने वाले लोगों

को दण्डित करने हेतु अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में परामर्श दिया है। सभी प्राणियों के भरण-पोषण का दायित्व गृहस्थाश्रम धारियों पर ही था; इसीलिए महाभारत आदि ग्रन्थों में इसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[34] मनुस्मृतिकार ने कहा है कि जिस प्रकार वायुद्वारा सभी प्राणी जीवित रखें जाते है उसी प्रकार सभी प्राणी गृहस्थाश्रम वासियों पर निर्भर हैं।[35]

बौधायन धर्मसूत्र में दो प्रकार के ग्रहस्थों का उल्लेख है-[36]

१- शालीन, २- यायावर ।

१- शालीन- गृहस्थधर्म का सम्यक् पालन करते हुए सम्पत्ति एकत्र करते थे, जबकि यायावर सम्पत्ति एकत्र नहीं करते थे। स्पष्ट है कि गृहस्थाश्रम अतिशय महत्व का आश्रम था जिसे बौद्ध एवं जैन धर्म क्रान्ति ने किंचित आधात पहुँचाया।

वानप्रस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम की समाप्ति के पश्चात् प्रायः ५० वर्ष की आयु पूरी कर लेने पर व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता था। आश्रम व्यवस्था में इसका क्रम तीसरा है। इस आश्रम का सर्वप्रथम उल्लेख ताण्ड्य

३४- महाभारत, शान्ति - पर्व २३/५

३५- यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा ग्रहस्थाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रयः ।।
यस्मात् त्रयोडप्याश्रमिणों ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यनते तस्माज्जयेष्ठाश्रयों ग्रही मनुस्मृति ३, ७८।।

३६- बौधायन धर्म सूत्र ३/१/१- ३५।

ब्राह्मण में मिलता है। वानप्रस्थी कन्द-मूल फल खाकर जीवन निर्वाह करता था। भौतिक सुखों से विरक्त होते हुए आत्मनियन्त्रण के साथ आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयास करता था। परवर्ती-काल के ग्रन्थ इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि इस आश्रम में प्रवेश करने वाला पत्नी सहित घर छोड़कर आश्रम में निवास करता था।[37] अगस्त्य ऋषि ने अपनी पत्नी के साथ वानप्रस्थ में प्रवेश किया था।[38] कण्व मुनि ने शकुन्तला का लालन-पालन किया था, वाल्मीकि ने सीता का भरण-पोषण किया था।

ये उदाहरण इस तथ्य को बल प्रदान करते हैं कि वानप्रस्थी अरण्यवासी होते हुए भी सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति करता था।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी की क्रान्ति ने मठों की जिस संस्कृति का विकास किया वह सनातनी वानप्रस्थी व्यवस्था से सर्वथा मेल खाती थी। यूनानी लेखकों ने भारतीय तपस्वियों का वर्णन किया है। एक विवरण के अनुसार दण्डमिश नाम के एक तपस्वी ने यूनानी आक्रान्ता सिकन्दर से प्रचुर धनराशि लेने से इन्कार कर दिया। तत्कालीन लेखकों के अनुसार ब्राहमणों को न तो धन का लोभ था और न तो मृत्यु का डर। वे सादा जीवन बिताते थे, 'सांसारिक सुख उनकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधा उपस्थित

३७- सकलभार्यासमन्वितों वनम् प्रविवेश ।
३८- मत्स्यपुराण ६१/३७ ।

नहीं कर सकते थे। वे अधिकतर समय वेदाध्ययन तथा प्राणियों के रंजन में व्यतीत करते थे ऐसा माना जाता था कि यदि किसी व्यक्ति को वानप्रस्थ आश्रम के कर्त्तव्यों को करते हुए मृत्यु हो जाये तो उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

संन्यासाश्रम

वानप्रस्थ आश्रम के पश्चात् अरण्यवासी पूर्णतः संन्यास को अपना लेता था। इस आश्रम में स्त्रियों का प्रवेश वर्जित था। संन्यासी जीवन और मृत्यु के प्रति निर्विकार भाव रखता था। वह कठोर वचनों से भयभीत नहीं होता था। वह केवल अपना कल्याण चाहने वाला नहीं था बल्कि संसार के कल्याण की कामना करने वाला था उसमें प्राणिमात्र के प्रति अटूट श्रद्धा होती थी; किन्तु उसकी श्रेष्ठता के प्रति समाज बर्वश झुक जाता था कैटिल्य ने भी संन्यासियों के वर्णन किये हैं जिससे स्पष्ट है कि उनके काल तक यह आश्रम व्यवहार में आ चुका था। ईसा पूर्व पॉच सौ ईसवी के आस-पास पाणिनीय व्याकरण में भी संन्यासी का उल्लेख मिलता है जो तत्कालीन समाज में इस आश्रम के अस्तित्व को व्यक्त करता है। वानप्रस्थ आश्रम तथा संन्यास आश्रम दोनों ही गृहस्थ आश्रम के त्याग तथा आध्यात्मिक उन्नति के साथ समाज कल्याणार्थ प्रयास को अभिव्यक्त करते हैं। फिर भी इनमें किंचित अन्तर है। जिसे पी० वी० काणे ने निम्नवत् अभिव्यक्त किया है।[39]

३६- काणे,पाडुंरंगवामन, 'धर्मशास्त्र का इतिहास'भाग-१ पृष्ठ- ४३६।

१- वानप्रस्थ सपत्नीक भी हो सकता था किन्तु संन्यासी सपत्नीक नहीं हो सकता था।

२- वानप्रस्थ यज्ञ की अग्नि रखते थे और यज्ञ करते थे किन्तु संन्यासी अग्नि का त्याग कर देते थे।

३- वानप्रस्थ तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे आहारादि का क्लेश सहन करते थे किन्तु संन्यासी भूख प्यास की परवाह न करके केवल परम तत्व का चिंतन करने में अपना समय व्यतीत करते थे।

वस्तुतः सम्पूर्ण आश्रम व्यवस्था इहलोक से परलोक तक के निर्वाधगमन का सुनियोजित प्रयास था। लौकिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयास था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी को समान महत्व प्रदान करते हुए प्रत्येक व्यक्ति से इसकी प्राप्ति हेतु प्रयास करने हेतु यह व्यवस्था स्थापित थी।

बौद्ध धर्म-क्रान्ति के समय तक यह व्यवस्था पूर्णतः स्थापित हो चुकी थी। यह बात ब्राह्मण ग्रंथों तथा यूनानी लेखकों के द्वारा प्रस्तुत विवेचनाओं से सिद्ध हो चुकी है। बुद्ध तथा जैन ने गृहस्थाश्रम पर अवश्य किचिंत् आधात पहुँचाया, परन्तु संन्यासाश्रम को बल प्रदान किया। भारतीय सनातनी परम्परा में स्त्रियों को संन्साश्रम में प्रविष्ट होना वर्जित था। उसका कार्य कुटुम्बिजनों की सेवा करना था; परन्तु बुद्ध ने इसकी अनुमति महिलाओं को भी दे दिया। बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द के कहने से बौद्ध संघ में

भिक्षुणियों के प्रवेश की स्वीकृति दे दी थी।[40] इसका प्रभाव यह पड़ा कि बौद्ध युग में युवतियाँ भी संन्यासिनी बनने लगी इसके विपरीत परिणाम के उदाहरण भी यत्र-तत्र मिलते हैं।[41]

पुरुषार्थ संस्कार सामाजिक मूल्य तथा आपदधर्म

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्थाओं में पुरूषार्थ का अत्यधिक महत्व रहा है पुरूषार्थ के द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि मनुष्य अपने आध्यामित्क और भौतिक जीवन के उदे्श्यों को प्राप्त कर सके पुरुषार्थ दो शब्दों से मिलकर बना है- 'पुरुष' तथा अर्थ। पुरुष का अर्थ है 'विवेकशील प्राणी' तथा अर्थ का तात्पर्य है 'लक्ष्य'। अतः पुरूषार्थ का अर्थ हुआ 'विवेकशील प्राणी का लक्ष्य'। पुरूषार्थ की अवधारणा द्वारा व्यक्ति के जीवन को सुव्यवस्थित किया गया जिससे कि अपने परम लक्ष्य अर्थात 'मोक्ष' की और अग्रसरित हो सके पुरुषार्थ चार भागों में विभक्त किया गया है – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

धर्म पहला पुरूषार्थ है, धर्म शब्द का अर्थ होता है 'धारण करना'। धर्म प्रजा को धारण करता है।[42] धर्म व्यक्ति को कर्त्तव्यों, सत्कर्मों एवं गणों की ओर

४०- चुल्लवग्ग १०/१/६।
४१- विनय पिटक, पृष्ठ - ५३७, पृष्ठ - ५४०।
४२- 'धारणाद्धर्म मित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारण संयुक्त स धर्म इति निश्चयः।।
महाभारत कर्णपर्व १०६/५८

उन्मुख करता है। धर्म मनुष्य के इच्छाओं, आवश्यकताओं के बीच संतुलन बनाये रखता है। मनु के अनुसार धर्म के चार आधार है- श्रुति(वेद), स्मृति(धर्मशात्र), सदाचार तथा आत्मतुष्टि।[43]

शास्त्रकारो का यह कथन है कि मनुष्य का शरीर नष्ट होते ही सभी कुछ छूट जाता है परन्तु धर्म तब भी उसके साथ रहता है। धर्म को साक्षात् ईश्वर का स्वरूप माना गया है, अतः पुरूषार्थ में धर्म का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है।

आपद्धर्म

विपत्ति और प्रतिकूल परिस्थितियों में शास्त्रों ने आपद्धर्म अपनाने का संकेत किया है तथा जीवन में कठ़िनाई उत्पन्न होने पर मनुष्य को अपेक्षित धर्म का पालन करने का विधान किया गया है। एक वर्ण का सदस्य आपत्ति काल में । दूसरे वर्ण के धर्म को अपना सकते थे।[44] ब्राहमण क्षत्रिय का, क्षत्रिय वैश्य का और शूद्र का धर्म अपना सकता था। इसी प्रकार राजा भी आपत्ति काल में विभिन्न प्रकार के कर ग्रहण कर सकता था। विपत्ति के समय अपने तथा अपने परिवार के सदस्यों के जीविकोपार्जन के निमित्त अपने वर्ण-धर्म को त्याग कर सामान्य धर्म को स्वीकार कर लेता था, जिससे कि वह आपत्ति में भी

४३- मनुस्मृति २/६/१२।
४४-मनुस्मृति १०/१०८/११८/१२।

धर्म-संवलित रह सके।

पुरुषार्थ में दूसरा स्थान 'अर्थ' का है। हिन्दू विचारको ने धन को भी पुरूषार्थ जीवन में स्थान देकर इसे उचित मानवीय आकांक्षा माना है। जिस प्रकार आत्मा के लिए मोक्ष, बुद्धि के लिए धर्म और मन के लिए काम की आवश्यकता है उसी प्रकार शरीर के लिए अर्थ 'धन' की आवश्यकता होती है। चाणक्य के अनुसार 'धर्म' अर्थ का मूल है। अर्थ के अभाव में जीवन व्यर्थ हो जाता है। पंचमहायज्ञों की पूर्ति करने के लिए भी अर्थ की आवश्यकता होती है। महाभारत के अनुसार अर्थ ही उच्चतम धर्म है। प्रत्येक वस्तु उस पर निर्भर करती है। अर्थ से सम्पन्न लोग सुख से रहते हैं। अर्थ रहित लोग मृतक के समान होते है। नीति शतक के अनुसार वह व्यक्ति पण्डित, वेदज्ञ, वक्ता, गुणज्ञ, तथा दर्शनीय माना जाता है जिसके पास धन हो।[45] परन्तु मनु के अनुसार अर्थ, धर्म विरोधी हो तो उसे त्याग देना चाहिए।[46] इस आधार पर धर्मसंचय धार्मिक आधार पर होना चाहिए।

भारतीय धर्म-दर्शन के अनुसार 'काम' का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है जिससे कि वंश-वृद्धि हो

४५- यस्याति वित्तं स नरः कुलीन।
स पंझिडतः स ब्रुतवान्गुण ।।
स एवं वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे बगुण कांचनमागश्रयान्ति।। नीतिशतक- ४२
४६- मनुस्मृति ४/१७६।

सके। काम का सर्वोत्तम और आध्यात्मिक उद्धेश्य पति-पत्नी में आध्यात्मिकता, मानव-प्रेम तथा भावनाओं का विकास करना है। इस उद्देश्य का ज्ञान पशु पक्षियों, कीट पतंगों को नही हो सकता। काम जीवन का प्रमुख अंग है; किन्तु इसकी अधिकता भयंकर दुर्गुण है। काम के वशीभूत होकर धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। महाभारत के अनुसार जो व्यक्ति धर्म रहित काम का अनुसरण करता है। वह अपनी बुद्धि का नाश कर लेता है। मत्स्यपुराण में कहा गया है कि धर्महीन काम बंध्या के समान है।[47] काम जीवन का प्रमुख अंग है परन्तु इसका प्रयोग धर्म के अनुकूल होना चाहिए काम पूर्ति के बिना मोक्ष नही मिल सकता काम प्राप्ति में अधिक सहायक होता है।

'मोक्ष' भारतीय परम्परा के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है सांसारिक एवं भौतिक बन्धनों से मुक्ति पाना ही मोक्ष कहलाता है मनु के अनुसार तीनों ऋणों- देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण- को पूरा करके ही मन को मोक्ष में लगाना चाहिए। इन ऋणों का शोधन किये बिना मोक्ष का सेवन करने वाला नरकगामी होता हैं।[48] मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करने वाले पुरुष के लिए आवश्यक है कि वह वेदों का ज्ञान प्राप्त करे, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न करें। यज्ञों का अनुष्ठान करे तब मोक्ष का निवेदन

४७-भागवतगीता २/४४/२/६१/२१६८।

४८- मनुस्मृति ६/३५ ।

करे। पुराणों में इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। वायु-पुराण के अनुसार अन्तिम आश्रम का अनुगामी व्यक्ति शुभ और अशुभ कर्मों का त्याग करके, जब अपना स्थूल शरीर छोड़ता है, तब वह जन्म और मृत्यु तथा पुनर्जन्म से पूर्णतः मुक्त हो जाता है। विष्णुपुराण के अनुसार मोक्षार्थी व्यक्ति को शत्रु-मित्र से समभाव रखते हुए, किसी भी जीव के प्रतिद्रोह नहीं करना चाहिए और लोभ, मोह, काम, क्रोध और दम्भ को पूर्णतया त्याग देना चाहिए।[49]

पुरुषार्थ का एक विशेष सामाजिक मूल्य है। भारतीय जीवन-दर्शन में पुरुषार्थ चतुष्टय की अपनी एक विशेष महत्ता है । पुरुषार्थ का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की आत्मा है। यह व्यक्ति को वाछित कार्य करने की प्रेरणा देती है तथा भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत के बीच संतुलन स्थापित करती है। पुरुषार्थ के माध्यम से ही मानव जीवन का सर्वांगीण विकास हो सकता है। यह व्यक्तित्व और समाज के निर्माण का भी आधार है। पुरुषार्थ भारतीय सामाजिक जीवन का मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार भी है।

संस्कार

संस्कार का अर्थ -

संस्कृत भाषा का 'संस्कार' शब्द सम्पूर्वक कृञ धातु

४६- विष्णुपुराण ३/६/२६-३०।

से धञ् प्रत्यय करके बना है- जिसका अर्थ है शुद्धता या परिष्कार। मीमांसा दर्शन धारा के अनुसार संस्कार का अर्थ 'विधिवत शुद्धि' से है तथा अद्वैत वाद भाव में इसे आत्मव्यंजक शुद्धि माना गया है। प्राचीन भारत में संस्कार का आधार धर्म था तथा यह विचार व्याप्त था कि संस्कार द्वारा मनुष्य जीवन को उन्नत परिष्कृत तथा सुसंस्कृत बनाया जाता है। धार्मिक आधार होने के कारण संस्कार में यज्ञ, हवन तथा कर्मकाण्ड का बाहुल्य रहा है देवताओं को प्रसन्न करके उनके आशीर्वाद तथा अनुकम्पा द्वारा जीवन को सुखमय बनाने के लिए विभिन्न संस्कारों की प्रतिष्ठा की गई। तत्कालीन संस्कार का सामाजिक उद्देश्य व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, तथा धार्मिक जीवन को उन्नत करना था। संस्कारो के माध्यम से जीवन को तेजोमय करना था। मनु के अनुसार संस्कार शरीर की शुद्धि करते हैं। ये गर्भाधान से प्रारम्भ होकर अंत्येष्टि क्रिया के साथ समाप्त होते हैं। प्रत्येक संस्कार होम अथवा यज्ञ से प्रारम्भ होता है। इनकी संख्या के विषय में मतभेद है। गौतम धर्मसूत्र में ४८ संस्कारों का वर्णन है। अधिकांश गृह्यसूत्रों की संख्या ४० बतायी गयी है। परन्तु प्रायः शास्त्रकारों ने संस्कारों की संख्या-१६ बतायी है- गर्भाधान, पुसंवन, सीमन्तोन्नयन, जात-कर्म, नामकरण अथवा नामधेय, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ा-कर्म, कर्ण-वेध, विद्यारम्भ उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, सावित्री, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास, अन्त्येष्टि संस्कार ।

गर्भाधान मानव जीवन का पहला संस्कार है। गर्भाधान का अभिप्राय 'गर्भ' का धारण करना अर्थात् वीर्य का गर्भाशय में स्थिर करना है। इस संस्कार का सम्बन्ध संतान प्राप्ति से है। ऋृतुस्नान के उपरान्त चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि के मध्य अन्तिम प्रहर का समय इसके लिए उपयुक्त माना गया है। याज्ञवल्क्य तथा मनु के अनुसार ८ वीं तथा १५ वीं रात्रियाँ गर्भधान के लिए वर्जित बतायी गयी है।[50] गर्भाधान की क्रिया करने से पूर्व यज्ञ करना आवश्यक था।

पुंसवन संस्कार गर्भाधान के तीसरे माह में किया जाता था। यह संस्कार सन्तान के पुत्र रूप में प्राप्ति के लिए किया जाता था इस संस्कार में रात्रि के समय गर्भवती स्त्री की नाक के दाहिने छेद में बरगद की छाल का रस डाला जाता था, इससे गर्भपात की सम्भावना का निराकरण होता था और पुत्र उत्पन्न होने में आने वाली बाधाओं का निराकरण होता था।

सीमान्तोन्नयन संस्कार गर्भ के चौथे महीने में आयोजित किया जाता था। गृह्यसूत्रों में यह संभावना व्यक्त की गयी है कि स्त्री के गर्भ धारण करने पर अनेक व्याधियॉ (राक्षसियॉ) गर्भ को समाप्त करने तथा भावी सन्तान

५०- आवश्वालासन गृहय सूत्र १/ १३ ।

को हानि पहुँचाने का प्रयास करती हैं इसके लिए पति को 'श्री' का आवाहन करना चाहिए जिससे की राक्षसियाँ भाग जायें । इस संस्कार में स्त्री के केशों को (सीमान्त) को ऊपर उठाया जाता था, इसलिए इस संस्कार को सीमान्तोन्नयन

संस्कार कहा गया। पुराणों के अनुसार इस संस्कार में नान्दीमुख नामक पितरों की पूजा करनी चाहिए ।[51]

जातकर्म संस्कार पुत्र प्राप्ति के पश्चात् नाभि छेदन (नारकाटने) से पहले किया जाता था।[52] इस संस्कार में पिता विधि पूर्वक स्नान करके नान्दी मुख नामक पितरों का श्राद्ध और पूजन करता था। इसके उपरान्त आशीर्वाद मन्त्रों को उच्चारण करते हुए पुत्र को स्पर्श करते हुए सूँघता था। आश्वालयन के अनुसार इस संस्कार में सबसे पहले पिता पुत्र को सोने की शलाका से घी और शहद चटाता था । जात कर्म संस्कार का उद्देश्य सन्तान पर पड़ने वाली अनिष्टकारी बाधाओं का निवारण करना था।

नामकरण संस्कार बच्चे के नाम रखने से सम्बन्धित है। इस संस्कार का आयोजन सूतक के समाप्त हाने पर किया जाता था, अतः जन्म के दसवें दिन या उसके बाद सम्पन्न किया जाता था। बृहस्पति के अनुसार

५१- विष्णुपुराण ३१/३/६।

५२- मनुस्मृति २/२६।

शिशु का नामकरण जन्म से दसवें,बारहवें, तेहरवें, सोलहवें, उन्नीसवे अथवा बतीसवें दिन सम्पन्न करना चाहिए। यह संस्कार शुभ तथा मंगल घड़ी में देव पूजन और यज्ञाहूति के बाद सम्पन्न किया जाता है। शिशु का नाम देवताओं, नक्षत्रों आदि के नाम पर रखे जाते थे। स्त्रियों के नाम के अन्त में आ, दा, अक्षर लगाया जाता था। मनु के अनुसार ब्राहमण का नाम मंगलसूचक, क्षत्रिय का बल सूचक, वैश्य का धन-सम्पदा सूचक तथा शूद्र का निन्दा सूचक शब्दों से युक्त होना चाहिए।

निष्क्रमण संस्कार जन्म के चौथे माह में सम्पन्न किया जाता था। प्रथम बार सन्तान को घर से बाहर निकाला जाता था इस प्रक्रिया में सन्तान को माँ की गोद में देकर सर्वप्रथम उसे सूर्य का दर्शन कराया जाता था। इसके पश्चात् पिता शिशु को सूर्य का दर्शन कराता था। इस संस्कार द्वारा शुभ महूर्त में देवताओं को स्मरण करते हुए बालक को घर के बाहर प्राकृतिक जगत में लाया जाता था।

अन्नप्राशान संस्कार में शिशु को प्रथम बार अन्न खिलाया जाता था। पाँचवे या छठे मास में अथवा जब शिशु के दाँत निकलने आरम्भ हो जाते थे तो उसकी अवस्था अन्न देने लायक समझी जाती थी। इस संस्कार में शहद, घी, दही, दूध, पके हुए चावल का मिश्रण शिशु को चटाया जाता था। कुछ लोग माँस भी चटाते थे। इसके उपरान्त ब्राहमण भोजन कराया जाता था।

चूडाकर्म (मुण्डन) संस्कार बालक के एक वर्ष बाद सम्पन्न किया जाता था। चूडाकर्म संस्कार अपने पारिवारिक रीति-रिवाजों के अनुसार कभी भी किया जा सकता था किसी शुभ मुहूर्त पर मन्दिर, सरिता या तालाब के किनारे नाई बालक के बालों को काट कर उन्हें गंगा में अथवा गोबर में लपेटकर गोशाला में डाल देता था। बालक को स्नान कराकर विधिपूर्वक हवन-पूजन के साथ मातृकाओं और देवताओं की स्तुति एवं अर्चना की जाती थी।

कर्णवेध संस्कार जन्म के तीसरे या पाचवे महीने में धार्मिक संस्कार के रूप में किया जाता था। कभी-कभी तीसरे या पाँचवे वर्ष भी इसे सम्पन्न किया जाता था सुई की नोक से कानों का छेदन होता था और तत्पश्चात् कानों में सुर्वण की बाली या कुंडल पहनाया जाता था।

विद्यारम्भ यह संस्कार बालक की आयु के छठें वर्ष में आयोजित किया जाता था। स्नान के पश्चात् बालक कोपीन, एक उत्तरीय तथा एक कटि वस्त्र धारण करता है तथा इसके पश्चात् गुरू मन्त्रों द्वारा बालक के विद्यारम्भ का संस्कार शुरू किया जाता था।

उपनयन संस्कार का हिन्दू समाज में सर्वाधिक महत्त्व है। इसे यज्ञोपवीत संस्कार भी कहते हैं। ब्राहमण के पुत्र का जन्म से आठवें वर्ष तथा क्षत्रिय के पुत्र का जन्म से ग्यारहवें वर्ष तथा वैश्य के पुत्र का जन्म से बारहवें वर्ष उपनयन संस्कार करना चाहिए। उपनयन दो

शब्दों के योग से बना है 'उप-नयन' उप का अर्थ है समीप, 'नयन' का अर्थ है ले जाना। उपनयन का अर्थ हुआ बालक को गुरु के समीप ले जाना। प्राचीन काल में बालक गुरु के पास ही रहकर शिक्षा ग्रहण करता था। उपनयन संस्कार में बालक को जनेऊ पहनाया जाता था। उपनयन संस्कार का उद्‌देश्य गुरु-शिष्य का निकटतम सम्बन्ध स्थापित करना है। गुरु बालक को गायत्री मंत्र देता हैं। जिसे सावित्री मंत्र भी कहते है। अलग-अलग वर्णो के लोग अलग-अलग उच्चारण के द्वारा माता-पिता अथवा कुटुम्बिजनों से शिक्षा ग्रहण करते थे।

वेदारम्भ संस्कार का अभिप्राय गुरु के पास जाकर बालक का गायत्री मंत्र से लेकर चारों वेदों तक का अध्ययन करना है। इस संस्कार में बालक गुरु की देख-रेख में वेदों का अध्ययन करता था।

केशान्त संस्कार विद्यार्थी के सोलहवें वर्ष में सम्पन्न किया जाता था। मनु के अनुसार गर्भ के सोलहवें वर्ष ब्राह्मण का, बाईसवें वर्ष क्षत्रिय का और चौबीसवें वर्ष वैश्य का केशान्त संस्कार सम्पन्न किया जाता था। केशान्त को गोदान भी कहा जाता था। इस संस्कार में ब्राह्मण आचार्य को गोदान किया जाता था।

सावित्री संस्कार गृह्य-सूत्रों के अनुसार उपनयन के तुरन्त बाद अथवा तीन वर्ष बाद तक की अवधि

में किसी समय सम्पन्न करना चाहिए। यह कार्य ब्रह्मचर्य आश्रम के रूप में नियोजित था।

समावर्तन संस्कार का अर्थ है गुरुकुल से 'शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त घर की ओर लौटना' है। इस समय पहली बार स्नातक की दाढ़ी मुड़वायी जाती थी और शीशा, कंघा, तेल आदि प्रयोग करने के लिए दिया जाता था। अब वह गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने का अधिकारी समझा जाता था।

विवाह संस्कार व्यक्ति के गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का सूचक है। यहाँ से व्यक्ति का समाजीकरण होकर उसके उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व का प्रारम्भ होता था। विवाह संस्कार के अर्न्तगत वाग्दान, वर-वरण, कन्यादान, विवाह होम, पाणीग्रहण, सप्तपदी, अश्वारोहण, सूर्यावलोकन, ध्रुवदर्शन, त्रिरागव्रत तथा चतुर्थी कर्म आदि अनेक विधियाँ विवाह के महत्व को समझाने के लिए सम्पादित की जाती थी।

वानप्रस्थ में प्रत्येक व्यक्ति तृतीय काल अर्थात ५० वर्ष हो जाने पर प्रवेश करता था। गृहस्थाश्रम के सभी कर्त्तव्यों से निवृत्त हो जाने पर सांसारिक कार्यों को त्याग कर ईश्वर की उपासना में अपना समय व्यतीत करता था।

उसके पश्चात् **संन्यास** आश्रम में प्रवेश करता था। मन्त्रोंच्चारण के साथ संन्यास धारण करने

वाले का यज्ञोपवीत तथा केश जल में प्रवाहित कर दिया जाता था।

अन्त्येष्टि संस्कार जीवन का अन्तिम संस्कार है, जिसमें मृत्यु हो जाने पर व्यक्ति का यह संस्कार किया जाता है। यह संस्कार प्रायः सबसे बड़े पुत्र के द्वारा कराया जाता है हिन्दुओं में लकड़ी की चिता पर मृतक को रखकर जलाने की प्रथा है। इस संस्कार में अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है। शव जल जाने के उपरान्त दाह-क्रिया सम्पन्न करायी जाती है। पिण्डदान, श्राद्धकर्म और ब्राह्मण भोजन के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता है। आज भी यह संस्कार शास्त्रसम्मत विधि से सम्पन्न कराया जाता है।

--------::------

चतुर्थ अध्याय

स्त्रियों की दशा तथा तत्कालीन समाज

स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व-सामाजिक मान

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। हिन्दू समाज में उनका सम्मान और आदर प्रारम्भ से ही होता था । बौद्धिक युग में स्त्री स्वतन्त्र और मुक्त थी। वह सभी प्रकार से पुरूषों के समान थी। उस युग में अनेक नारियों जैसे कि लोपामुद्रा, विश्ववारा, सिक्ता, घोषा आदि विदुषी स्त्रियाँ थीं, जिन्होने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं का प्रणयन किया था। सामाजिक समारोहों अथवा धार्मिक उत्सवों में अलंकृत होकर बिना किसी रोक-टोक के प्रतिभाग करती थीं। वे यज्ञ की अधिकारी होती थीं। अकेला पुरूष यज्ञ के लिए अयोग्य माना जाता था। स्त्रियों की सहभागिता अनिवार्य होती थी। सीता के न होने पर राम को अश्वमेध यज्ञ करते समय अपनी पत्नी सीता की स्वर्ण प्रतिमा बनानी पड़ी थी। 'ब्रह्मयज्ञ' में जिन ऋषियों की गणना की जाती थी उनमें सुलभा, गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषियों के भी नाम लिये जाते हैं, जिनकी प्रतिष्ठा वैदिक ऋषियों के समान थी। विदेह शासक जनक ने यज्ञ के अवसर पर जो धार्मिक शास्त्रार्थ का समायोजन किया था, उसमें गार्गी ने अपनी विलक्षण प्रतिभा अद्भूत तर्क शक्ति से, दुरूह प्रश्नों से याज्ञवल्क्य ऋर्षि के दाँत खट्टे कर दिये थे। तत्कालीन साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि बिना पर्दे के स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक पुरूषों के साथ विद्वद्गोष्ठियों, और दार्शनिक वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में सम्मिलित होती थीं। उनके मान और

सम्मान में किसी प्रकार की कमी नहीं किया जाता था। वस्तुतः वैदिक युग में स्त्री जितनी स्वतंत्र और मुक्त थी उतनी परवर्ती काल के किसी भी युग नहीं थी।

उत्तरवैदिक काल के परवर्ती युग से ही नारी की दशा अवनति की ओर अग्रसर होने लगी। कन्याओं को पूर्वजों की पूजा के लिए यज्ञ करने का अधिकार नहीं रहा था। पुत्र ही यह धार्मिक कृत्य कर सकते थे। इस काल में पुत्री के जन्म को अशुभ समझा जाने लगा था। किन्तु उनके लालन-पोषण में उनकी उपेक्षा नहीं की जाती थी। उनकी शिक्षा की भी उचित व्यवस्था की जाती थी। कन्याएँ लगभग सोलह वर्ष की आयु तक ही अविवाहित रहती थीं और उनका उपनयन संस्कार किया जाता था। अर्थववेद में कन्या के ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी अपने पति के वाद-विवाद में भाग लेती थीं।[1] कन्याएँ प्रायः माता-पिता के संरक्षण में रहती थीं। पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई उनकी देखभाल करते थे। विवाहित स्त्रियाँ अपने पतियों के संरक्षण में रहती थीं। स्त्रियों के लिए निन्दनीय शब्दों का प्रयोग होने लगा था। उन्हें असत्यभाषी और अनृत कहा गया।[2] उसे

१- बृहदारण्यक उपनिषद २/४
२- मैत्रायणी संहिता, ३/६/३

पुरुषों के साथ यज्ञ में सोम का भाग लेने से वंचित कर दिया गया, और उसकी स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

महाकाव्यों के काल में स्त्रियों की स्वतंत्रता और स्वच्छन्दता पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं लगा था। सामाजिक उत्सवों और धार्मिक त्योहारों पर स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक प्रतिभाग करती थीं। रामायण में सीता का विचरण, तथा महाभारत में द्रौपदी का भ्रमण उनकी स्वच्छन्दता का प्रमाण प्रस्तुत करती है। उनके प्रति समाज में आदर के भाव थे। महाभारत में भीष्म पितामह के अनुसार स्त्री को सर्वदा पूज्य मानकर उससे स्नेह का व्यवहार करना चाहिए। जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवताओं का निवास होता है और उसकी अनुपस्थिति में सभी कार्य अपवित्र हो जाते हैं।[3] धर्नसूत्रों और स्मृतियों के युग में स्त्री का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त होता गया। स्त्री के साथ भोजन ग्रहण करने वाले व्यक्ति को गर्हित आचरण करने वाला व्यक्ति कहा गया।[4] पूर्व मध्य युग में उसके सारे अधिकार सीमित कर दिये गये और उसकी स्वतन्त्रता पर अनेक नियन्त्रण लगा दिया गया।[5] विज्ञानेश्वर ने शंख का उद्धरण देकर टिप्पणी की है कि वह घर से बिना कहे और बिना चादर ओढ़े बाहर

३- महाभारत, अनुशासन पर्व, ४६/५ ।
४- बौधायन, धर्मसूत्र १/१/१६ ।
५- भिताक्षरा, याज्ञ० २/१४/८ ।

न जाये, शीघ्रतापूर्वक न चले। बनिये, संन्यासी, वृद्ध वैद्य के अतिरिक्त किसी पर पुरुष से बात न करे। अपनी नाभि खुली न रखे, एड़ी तक कपड़ा पहने, स्तनों पर से कपड़ा न हटाये, मुँह ढके बिना न हसे, पति या सम्बन्धियों से घृणा न करे। वह धूर्त, वैश्या, अभिसारिणी, संन्यासिनी, भाग्य बताने वाली, जादू-टोना या गुप्त विधियाँ करने वाली दुःश्लील स्त्रियों के साथ न रहे। इनकी संगति से कुलगत स्त्रियों का चरित्र निम्न होता है।[6] इस प्रकार अनेक नियंत्रण उस पर लगाये गये तथा सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दृष्टियों से उसे प्रतिबन्धित कर दिया गया। दासी के रूप में में उससे सभी घरेलू कार्य कराने का निर्देश दिया गया। अल्बीरूनी के अनुसार कन्या की अपेक्षा पुत्र का अधिक ध्यान रखा जाता है।

स्त्रियों की शिक्षा

वैदिक युग में नारियों की शिक्षा की उत्तम व्यवस्था थी। वह पुरुषों के समान बिना भेदभाव के शिक्षा प्राप्त करती थी। वह ज्ञान और बुद्धि के क्षेत्र में अग्रणी थी। वैदिक काल से लेकर ईसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक कन्या का वेदाध्ययन उपयन संस्कार से प्रारम्भ होता था। स्त्रियाँ भी ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करती थीं। वे दर्शन और तर्कशास्त्र में निपुण थीं। सूत्रयुग में भी स्त्रियाँ वेदों का अध्ययन करती थीं तथा मन्त्रोच्चारण करती थीं। पूर्व वैदिक

६- विज्ञानेश्वर, याज्ञ० १८७ ।

काल में लोपामुद्रा, विश्वावारा, सिक्ता तथा घोषा आदि अनेक विदुषी स्त्री कवियित्रयों ने वैदिक मन्त्रों की भी रचना की थी और इसीलिए वे वेद में ''ऋषि'' उपाधि से विभूषित की गयी थीं। नोधा, अकृष्टामाप, निवावरी तथा गोपायना आदि अन्य विदुषी नारियाँ थीं जिनका उल्लेख सामवेद में प्राप्त होता है। शिक्षा की अनिवार्यता विवाह के योग्य बनने के लिए भी हुआ करती थी। अध्ययनरत छात्राओं की दो श्रेणियाँ थीं। प्रथम ''ब्रह्ममवादिनी'' छात्राएँ थीं जो आजीवन आध्यात्म तथा दर्शनशास्त्र की छात्रा रहती थीं। द्वितीय श्रेणी की छात्राएँ ''सद्योवधू'' कहलाती थीं, और विवाह के पूर्व तक ये अपना अध्ययन जारी रखती थीं। कन्याओं के लिए वेदाध्ययन आवश्यक था । क्योंकि स्त्रियों को नियमित रूप से प्रातः संध्या वैदिक प्रार्थनाएँ करनी पड़ती थी। पत्नियाँ यज्ञादि में अपने पति के साथ मन्त्रोच्चारण करती थीं। स्त्रियाँ मीमांसा जैसे गूढ़ विषय में भी रुचि लेती थीं। इसका प्रमाण ''काशकृत्सनी'' नामक ग्रन्थ है। इसकी रचना 'काशकृत्सन' नामक व्रह्मसानिनी ने की थी। गार्गी ने दर्शनशास्त्र पर याज्ञवल्क्य से अनेक प्रश्न किये थे। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी वेदान्त की छात्रा थी। राम के युवराज पद पर अभिषेक के समय तक कौशल्या ने यज्ञ किया था। स्त्रियाँ वैदिक गान के अतिरिक्त ललित कलाओं में भी निपुण होती थीं। महाभारत से ज्ञात होता है कि पाण्डवों की माँ कुन्ती

अथर्ववेद में पारंगत थी।[7] इस बात से यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ मंत्रविद् और पंडिता होती थीं तथा ब्रह्मचर्य[8] का अनुगमन करती हुई उपनयन संस्कार भी कराती थी। कन्या के लिए उपयन का विधान मनु ने भी किया।[9] ऋषि कुशध्वज की कन्या वेदवती ने ब्रह्मवादिनी बनकर पूरा जीवन अध्ययन में व्यतीत कर दिया था। बाल्मीकि और अगस्त्य जेसे ब्रह्मऋषियों से वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करके मैत्रेयी ने ख्याति प्राप्त की थी। कौशल्या और तारा दोनों मन्त्रविद् थीं तथा सीता नित्य वैदिक प्रार्थनाएँ किया करती थीं।[10] महाभारत से विदित होता है कि द्रौपदी 'पण्डिता' थी। रामायण में विवृत है कि अत्रैयी ने वाल्मीकि आश्रम में रहकर सानार्जन किया था। उसके साथ आश्रम में लव-कुश आश्रम में लव-कुश भी शिक्षा ग्रहण करते थे। सह शिक्षा का उदाहरण महाभारत में देखने को मिलता है। जिसमें अम्बा और शैखावत्य एक साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। प्राथितेयी, बढ़वा जैसी विदुषी नारियों में शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में अद्भुत सफलता प्राप्त की थी। बौद्ध युग में भी स्त्रियाँ प्रायः शिक्षित और विद्वान हुआ करती थीं। विद्या, धर्म और दर्शन के प्रति उनकी अगाध रुचि होती थी। बौद्ध आगमों से ज्ञात होता है कि शिक्षिकाओं के रूप में

७- महाभारत, ३/३०५/२० ।
८- अथर्ववेद, ११/५/१८ ।
९- मनुस्मृति, २/६६/ ।
१०. रामायण, २/२०/७५ ; ५/१५/४८ ।

भी उन्होंने ख्याति प्राप्त की थी। थेरीगाथा की कवियित्रियों में ३२ आजीवन ब्रह्मचारिणी और १८ विवाहित भिक्षुणियाँ थीं। उनके नाम इस प्रकार है- शुभा, सुमेधा और अनोपमा उच्च वंश की कन्याएँ थीं, जिनसे विवाह करने के लिए राजकुमार और सम्पत्ति सम्पन्न सेठों के पुत्र उत्सुक थे।[11] भिक्षुणी खेमा उस युग की उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्री थी जिसकी ख्याति दूर-दूर तक फैली थी। संयुक्त निकाय से ज्ञात होता है कि सुभद्रा नामक भिक्षुणी व्याख्यान देने में प्रसिद्ध थी। राजगृह के सम्पन्न सेठ की पुत्री भद्राकुण्डकेशा अपनी विद्या और ज्ञान से सबको अपनी ओर आकर्षित करती थी। इस प्रकार के उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में नारियाँ ज्ञान -पिपासु थी, तथा उसके अन्वेषण और प्राप्ति में लगी रहती थीं। एक जातक से ज्ञात होता है कि एक जैन पिता की चार पुत्रियों ने देश का भ्रमण करते हुए लोगों को दर्शनशास्त्र पर वाद-विवाद करने के लिए चुनौती दी थी।[12] जैन साहित्य से भी विदुषी स्त्रियों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। कौशाम्बी शासक की पुत्री जयन्ता ज्ञान और दर्शन में अग्रणी थी। अनेक महिलाएँ अध्यापिकाओं का जीवन व्यतीत करती थीं, जो अपना शिक्षणकार्य उत्साह और लगन के साथ निष्ठापूर्वक सम्पन्न करती थीं। ऐसी स्त्रियाँ 'उपाध्याया' कही जाती थीं।[13] ये उपाध्याया छात्राओं को पढ़ाया करती थीं तथा

११-र्हानर, विमेन अंडर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, दूसरा अध्याय ।
१२-जातक, सं० ३०१ ।
१३-पतंजलि, ३/८२२/ उपेत्याधीते अस्याः सा उपाध्याया ।

उन्हें अन्यान्य विषयों का ज्ञान प्राप्त कराती थीं। ऐसी महिला शिक्षण संस्थाओं का प्रबन्ध उपाध्यायाएँ ही करती रहीं। पाणिनी ने महिला शिक्षणशाला का उल्लेख किया है।[14] उसयुग में सहशिक्षण का भी प्रचलन था जो पूर्व वैदिक युग से चला आ रहा था। छात्र-छात्रायें एक साथ शिक्षा प्राप्त करती थीं। भूरिवसु और देवराट् के साथ कामन्दकी ने गुरुकुल में अध्ययन किया था। पुराणों से विदित होता है कि नारी शिक्षा के दो रूप थे- एक आध्यात्मिक और दूसरा व्यवहारिक। आध्यात्मिक ज्ञान में बृहस्पति भगिनी भुवना, अपर्णा, एकपर्णा, एकपाटला, मेना, धारिणी, संनति, शतरूपा आदि कन्याओं का उल्लेख हुआ है जो ब्रह्मवादिनी थीं। इसके अतिरिक्त ऐसी कन्याओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिन्होंने अपनी तपस्या द्वारा अभीष्ट की प्राप्ति की थी। उमा, पीवरी, धर्मव्रता जैसी कन्याओं ने तप के बल पर मनोनुकूल वर पाया था। पूर्व वैदिक काल में आपाला नामक कन्या अपने पिता के कृषि कार्य में सहयोग प्रदान करती थी। उस युग में कुछ कन्याएँ गाय दुहना भी जानती थीं इसीलिए इन कन्याओं को 'दुहिता' भी कहा जाता था। नारियाँ सूत कातना, बुनना और वस्त्र सिलना भी जानती थीं। ललित कलाओं - नृत्य, गायन, वादन में भी निपुण होती थीं। रामायण और महाभारत में स्त्रियों

१४-पाणिनी, ६/२/४६ छात्र्यादयः शालायाम् ।

के नृत्य, गायन और संगीत के अनेक उदाहरण मिलते हैं । त्रिपुर की स्त्रियाँ अपनी भाव-भंगिमा से सबको आनन्दित कर देती थीं। चित्रकला का भी समुचित विकास हो चुका था। इस सम्बन्ध में अनेक पौराणिक उदाहरण प्राप्त होते हैं। वाणासुर के मंत्री कुष्माण्ड की कन्या की सखी चित्रलेखा ने चित्रपट पर अनेक देवों, गन्धर्वों और मनुष्यों की आकृतियों का अंकन किया था, जिसमें अनिरुद्ध का भी चित्ताकर्षक चित्र था। दूसरी सदी ई०पू० तक उपनयन व्यवहारतः बन्द हो चुका था। मनु के अनुसार पति ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन संस्कार, पति की सेवा ही उसका आश्रम निवास और गृहस्थी के कार्य ही दैनिक धार्मिक अनुष्ठान थे।[15] कालान्तर में शूद्रों की ही तरह वेदों के पठन-पाठन और यज्ञों में सम्मिलित होने के अधिकार से वंचित कर दी गई। वह केवल माता, पिता, भाई, बन्धु से गृह पर ही शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। परवर्ती भाष्यकार विश्वरूप, मेधातिथि, अपरार्क ने भी यही व्यवस्था की थी।

पूर्व-मध्य युग तक आकर नारी शिक्षा का प्रसार अवरूद्ध हो चुका था, किन्तु अभिजातवर्ग में सुसंस्कृत और सुबोध स्त्रियों की कमी नहीं थी । इस समय की नारियाँ संस्कृत और प्राकृत भाषा में दक्ष होती थीं। काव्य संगीत, नृत्य, वाद्य, और चित्रकला में प्रवीण होती थीं।

१५-मनुस्मृति, २/६७ ।
वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिको मतः ।
पतिसेवा गुरौर्वासो गृहार्थोग्नि परिक्रिया ।।

राज्यश्री के लिए वाण ने 'नृत्य-गीत' में पारंगत होने का परिचय दिया है। गाथा सप्तशती से अनेक विदुषी स्त्रियों की जानकारी प्राप्त होती है- जैसे कि रेखा, रोहा, माध्वी, अनुलक्ष्मी, पाहई, शशिप्रभा आदि। नारियाँ अपने कविता के लिए विख्यात थीं। कविवर राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी उत्कृष्ट कवियित्री और टीकाकार थी। मंडन मिश्र की विदुषी पत्नी तर्क, मीमांसा , वेदान्त और साहित्य में पूर्ण पारंगत थी। मण्डन मिश्र और शंकर के बीच निर्णायका मंडन मिश्र की विदुषी पत्नी थी। ऐसी भी स्त्रियाँ हुई हैं जो शासन व्यवस्था और राज्य के प्रबन्ध में दक्ष होती थीं। यूनानी आक्रमण के समय नभनिका ने अपने अल्पवयस्क पुत्र का संरक्षण करते हुए स्वयं प्रशासन संभाला था। प्रभावती गुप्ता, अल्का देवी, मैला देवी जैसी गुजरात की चालुक्य वंशी रानियों ने निष्ठापूर्वक अपने राज्य का संचालन किया था। अवसर पड़ने पर नारियों ने समय-समय पर बुद्धिमत्ता और कुशलता का परिचय दिया है।

सम्पत्ति में अधिकार तथा स्त्रीधन

स्त्रियों का सम्पत्ति में अधिकार

प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों के विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया और उदारतापूर्वक उनके अधिकार के विषय में कानून बनाये गये। वैदिक काल में सामान्यतया कन्या की गणना दायाधिकारियों में नहीं की जाती थी। केवल वही कन्या जिसका भाई नहीं होता था, पिता की

सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी मानी जाती थी। साधारणतया कन्या का पिता अपने दामाद से यह समझौता करता था कि पहले धेवते को वह नाना का कुल चलाने के लिए उसे दे देगा। इस काल में यदि कन्या अविवाहित रहती थी तो उसे पिता की सम्पत्ति में कुछ भाग मिलता था। परन्तु प्रायः समाज में यही धारणा व्याप्त थी कि पुत्री को पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं मिलना चाहिए। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि इस काल में पति-पत्नी को अपनी चल सम्पत्ति समझता था। चौथी सदी तक यह व्यवस्था समाज में विद्यमान थी।[16] किन्तु दूसरी सदी ई०पू० में आकर स्त्री शिक्षा पर अनेक प्रतिबन्ध लग गये, जिनके कारण स्त्री का सम्पत्ति विषयक अधिकार भी क्षतिग्रस्त हुआ। इस युग में अनेक ऐसे अनुदार धर्मशास्त्रकारों के एक वर्ग का आगमन हुआ जिन्होंने भाई के न रहने पर भी स्त्री के उत्तराधिकार को नहीं स्वीकार किया। आपस्तम्ब ने यह व्यवस्था दी कि उत्तराधिकारी के अभाव में जब सपिण्ड, या गुरू या शिष्य कोई न हो तब पुत्री उत्तराधिकारिणी हो सकती है, यद्यपि उन्होंने पुत्री को सारी सम्पत्ति धर्म कार्य में लगा देने के लिए निर्देश दिया है।[17] वशिष्ठ, गौतम और मनु ने भी उत्तराधिकारिणी के रूप में पुत्री का कहीं भी नाम नहीं

१६- थेरी गाथा, सं० ३२७ ।
१७- आपस्तम्ब धर्म सूत्र, २/१४/२-४ ।
पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः। तदभावे आचार्यः।
आचार्याभावे अन्तेवासी हृत्वा धर्मकृत्येषु योजयते् दुहिता वा ।।

लिया है।[18] परन्तु इसके विपरीत दूसरे शास्त्रकारों ने अत्यन्त उदारतापूर्वक पुत्री के उत्तराधिकारी होने के मत को प्रतिपादित किया है। महाभारत में उसके इस अधिकार को पुत्र के समान ही स्वीकार किया गया था और यह कहा गया था कि अगर अभ्रातका को पूरी सम्पत्ति नहीं मिलती है तो आधी अवश्य मिलनी चाहिए। कौटिल्य ने भी पुत्री के प्रति सदाशयता दर्शित करते हुए अभ्रातृ कन्या को उत्तराधिकारिणी घोषित किया, चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यों न मिले।[19] याज्ञवल्क्य ने दृढ़तापूर्वक पुत्री के हित में अपना मत प्रकट किया तथा यह निर्देश दिया कि पुत्र और विधवा के अभाव में पुत्री ही उत्तराधिकारिणी है।[20] बृहस्पति और नारद ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि क्या पुत्री अपने पिता की पुत्र के समान सन्तान नहीं। फिर पुत्र के न होने पर उसके उत्तराधिकार को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है।[21] इसी प्रकार कात्यायन जैसे व्यवस्थाकारों ने अपने विचारों का विकास किया तथा पुत्र के अभाव में पुत्री के उत्तराधिकारी होने का मत प्रतिपादित किया। अल्बीरूनी ने भी पुत्र के अभाव में पुत्री के

१८- वशिष्ठ धर्मसूत्र,१५/७; गौतम धर्मसूत्र २८/२१; मनुस्मृति, ६/१८५।

१६- अर्थशास्त्र, ३/५ ''द्रव्यम् पुत्रस्य सौदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः कन्याश्च् ।

२०- याज्ञवल्क्य स्मृति, २/१३५ ।

२१- बृहस्पति, १५/३५ ; नारद ०,१३/५०, पुत्राभावे तु दुहिता तुल्य संतान कारणात् ।

उत्तराधिकारिणी होने के नियम की पुष्टि की है। कन्या को पुत्र के हिस्से का चौथाई पाने की संस्तुति जीमूतवाहन और विज्ञानेश्वर दोनों शास्त्रकारों ने की है।[22] विष्णु और नारद जैसे व्यवस्थाकारों के अनुसार कन्या का हिस्सा तो है, परन्तु उन्हें ले जाने की अनुमति नहीं प्रदान किया। नारद के अनुसार कन्या उतना ही हिस्सा प्राप्त करे जितना उसके अविवाहित रहने तक व्यय होता है। पिता के न रहने पर कन्या का विवाह करना पुत्र का परम कर्त्तव्य था तथा अपने हिस्से का एक-चौथाई विवाह कार्य में व्यय कर सकता था। अथवा अपने सम्पत्ति में से विवाह का समस्त व्यय करता। विधवा का सम्पत्ति में अधिकार माना गया है, यद्यपि वैदिक साक्ष्य इसके विरुद्ध है। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में पति की मृत्यु विधवा के अधिकार को नहीं स्वीकार किया गया है। कालान्तर में विधवा के अधिकार को समाज में स्वीकृति मिली तथा पति की मृत्यु के बाद प्रायः विधवा ही उत्तराधिकारिणी होती थी। तीसरी सदी ई०पू० तक विधवा के सम्पत्ति विषयक अधिकार को मान्यता नहीं प्राप्त थी। आपस्तम्ब ने विधवा के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को नहीं स्वीकार किया है तथा यह मत व्यक्त किया है कि व्यक्ति की मृत्यु के बाद पुत्र के अभाव में उसका उत्तराधिकारी सपिण्ड व्यक्ति होता था, इसके

२२- जीभूतवाहन, दायभाग, ११२/४/; विज्ञानेश्वर मिताक्षरा; याज्ञवल्क्य ०, २/१३५ ।

न रहने पर मृत व्यक्ति का आचार्य या उसके न रहने पर उसका अन्तेवासी सम्पत्ति का अधिकारी होता था। मनु के अनुसार पुत्र के अभाव में पुरुष के धन का भागी पिता या भाई था। मनु के मत का भाष्य करते हुए मेधातिथि ने लिखा है कि सम्पत्ति में विधवा कहीं भागीदार नहीं होती। पहली सदी ईसवीं तक के व्यवस्थाकारों के अनुसार यदि विधवा पुनर्विवाह नहीं करती है अथवा नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करती है तो उसे भरण-पोषण खर्च का प्रबन्ध अवश्य करना चाहिए। विष्णु के अनुसार पुत्रों के अयोग्य होने पर विधवा उत्तराधिकारिणी होती थी। नारद ने उत्तराधिकारी के अभाव में मृत व्यक्ति की सम्पत्ति पर राज्य के अधिकार को स्वीकार किया है तथा विधवा को केवल भरण-पोषण के लिए धन प्रदान करने का निर्देश दिया है। किन्तु दायभाग और मिताक्षरा के अनुसार मृत पति के सम्पूर्ण धन को पुत्र के अभाव में विधवा प्राप्त करती रही है। इस प्रकार कुछ ऐसे विचारकों का वर्ग विकसित हुआ जिसने नारी के अधिकार का प्रतिपादन तथा उसकी आर्थिक स्थिति का आकलन किया। नारी के समान अधिकार की संपुष्टि करने वाले ऐसे शास्त्रकारों ने नारी के प्रति अत्यन्त उदार और संवेदनशील मत की अभिव्यंजना की।

पूर्व मध्य युग में निश्चय ही स्त्री के प्रति सहानुभूति और स्नेह का वातावरण निर्मित दीखता है। विशेषकर उसके आर्थिक जीवन को अधिक सुगम और सुदृढ़ बनाने के विचार से शास्त्रकारों ने सम्पत्ति में उसके अधिकार

को स्वीकार किया। स्त्रियों में विधवा नारी का जीवन कठिनाईयों से भरा होता है। अतः उदार विचारकों ने उसके सम्पत्ति विषयक अधिकार को स्वीकार करने का तर्क प्रस्तुत किया।

स्त्रीधन (स्त्री की सम्पत्ति)

हिन्दू व्यवस्थाकारों ने स्त्री-धन के अन्तर्गत नारी की विभिन्न सम्पत्तियों का उल्लेख किया है। स्त्री की अपनी स्वयं की सम्पत्ति, जिस पर उसका पूर्णस्वत्त्व होता है, वह स्त्री धन कहा जाता है। मनु के अनुसार वैवाहिक अग्नि के सम्मुख जो कुछ कन्या को दिया जाता है, जो कन्या को पति गृह जाते समय मिलता है, जो स्नेहवश उसे दिया जाता है, जो माता-पिता और भाई से मिलता है, वह सब स्त्री धन है, जिसके छः प्रकार हैं।[23]

भाष्यकार विज्ञानेश्वर ने भी स्त्री धन को कम से कम छः प्रकार का बताया है- पिता, माता, भ्राता और पति द्वारा दिया हुआ, अग्नि की सन्निधि में विवाह के समय कन्यादान के साथ प्राप्त तथा अधिवंदन के निमित्त मिला हुआ धन । यही नहीं, विवाह होने के पश्चात् प्रीतिपूर्वक सास, श्वसुर आदि से पादवन्दनादि प्रथा में स्त्री को जो प्राप्त होता था, वह भी स्त्री धन था।[24] आसुर विवाह

२३-- मनुस्मृति, ६/१६४ ।
अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीति कर्मणि ।
भ्रातृ मातृपितृ प्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ।।
२४-- मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य, ०२/१४३ ।

में अभिभावक द्वारा कन्या के निमित्त जो धन लिया जाता था,वह भी स्त्री-धन के अन्तर्गत आता था। धीरे-धीरे पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति स्त्री धन के अन्तर्गत समाहित हो गयी। थेरीगाथा से ज्ञात होता है कि धर्मदिन्ना को उसके पति ने यह निर्देश दिया था कि अपने माता-पिता के यहाँ जाते समय जो भी धन वह ले जाना चाहे, ले जाये।[25] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति में स्त्री का भाग होता था और वह उसे अपने पास रख सकती थी। यही नहीं, पति के मरने के पश्चात् नारी को उसके स्त्री धन से वंचित न करने का मनु द्वारा निर्देश दिया गया है।[26] कात्यायन ने स्त्री के स्वामित्त्व और उसके स्वत्व का प्रतिपादन किया है और यह विचार प्रस्तुत किया है कि स्त्री अपने स्त्रीधन के साथ अचल सम्पत्ति को बंधक रख सकती थी अथवा बेच सकती थी। मिताक्षरा और दायभाग दोनों ने कात्यायन द्वारा विवृत स्त्री धन की सूची देते हुए उसका विमर्श किया है। स्त्रीधन के अन्तर्गत परिवार की भूमि के अतिरिक्त उसके मूल्यवान वस्त्राभूषण भी होते थे, जिनका वह स्वयं उपयोग करती थी। माता-पिता, पति तथा भाई से जो धन प्राप्त हो, विवाह काल में अग्नि के सम्मुख मातुल आदि द्वारा जो धन प्राप्त हो, अधिवेदन के निमित्त अधिविन्ना

२५- थेरी गाथा, १२/

२६- मनुस्मृति, ३/५२ ।
स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति मानवाः ।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ।।

स्त्री को पति द्वारा दिया हुआ धन, आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि रिक्थ (उत्तराधिकार) क्रय, संविभाग, प्रतिग्रह, अधिगम से प्राप्त ये सब स्त्री धन थे। जीमूतवाहन ने दायभाग में कात्यायन का मत उद्धृत किया है, जिसके अनुसार 'सौदायिक' (स्नेहियों ने प्राप्त धन) पर स्त्रियों की स्वतन्त्रता सुनिश्चित होनी चाहिए। क्योंकि यह उसे इसलिए मिलता है कि वह अपना जीवन (सहायता या पोषण) कर सके और नृशंस (कठोर या दयनीय) अवस्था को न प्राप्त हो। अपने इच्छानुसार अपने स्थावर सम्पत्ति का भी दान या विक्रय कर सकती है। भर्तृदाय को पति के मरने पर ही अपने इच्छानुसार काम में ला सकती है, उसके जीवनकाल में उसको सुरक्षित रखना पड़ता है, अथवा वह उसके कुल पर व्यय कर सकती है। सौदायिक स्त्री धन के ग्रहण अथवा दान में पति, पुत्र, पिता, भाई किसी को अधिकार नहीं है।[27] धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री धन के उपयोग पर प्रायः प्रतिबन्ध लगाया है तथा किन्हीं विशेष स्थितियों में ही पति द्वारा उसके उपयोग पर अनुमति दी है। पति स्त्री धन का केवल उसी अवस्था में उपयोग कर सकता था जब वह दुर्भिक्ष, धर्मकार्य,व्याधि अथवा जेल जाने की स्थिति में होता था। नारद के अनुसार स्त्री को केवल चल सम्पत्ति ही बेचने की अनुमति दी है।

२७- दायभाग, सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातंत्र्य परिकीर्तितम् ।
विक्रये चैव दाने च यथेच्छं सीवररेष्विपि ।।

इस मत को अन्य मध्यकालीन भाष्यकारों ने भी स्वीकार किया है। स्त्री की ममता साधारणतः पुत्री के प्रति होती है, इसलिए शास्त्रकारों ने स्त्री धन की अधिकारिणी पुत्री को ही बताया है।

इस सन्दर्भ में विज्ञानेश्वर का मत है, कि यह उचित है कि पुत्री को ही माता का स्त्री धन प्राप्त हो, क्योंकि पुरूष का शुक्र अधिक होने से पुमान (पुरूष) उत्पन्न होता है, स्त्री का रज अधिक होने से पुत्री। अतः कन्या में स्त्री के अवयव अधिक होने के कारण मातृधन उसको प्राप्त होता है। पुत्र में पुरुष का अवयव अधिक होने से पितृधन पुत्र को मिलता है। पराशर ने भी यही कहा है कि अप्रदत्ता (अविवाहित) कन्याओं को ही स्त्री धन मिलना चाहिए, पुत्र को नहीं। यदि कन्याएँ विवाहित हों तो उनको समान भाग मिलना चाहिए। किन्तु दोषपूर्ण और अवगुणयुक्त कन्याओं को स्त्री-धन न देने का विधान शास्त्रकारों ने किया है। हिन्दू समाज में स्त्री धन नारी की सामाजिक और आर्थिक दशा को प्रस्तुत करता है, जो उसके विभिन्न अवस्थाओं से जुड़ा हुआ रहता है। यह बात भी सत्य है कि स्त्री धन को लेकर धर्मशास्त्रकारों में मतभेद रहा है, अतः परिणाम स्वरूप उनके दो वर्ग बन गये, एक उदार और दूसरा अनुदार। स्त्री के विपत्ति काल और दुर्दिन में जब उसके सभी सगे-सम्बन्धी और सहायता करने वाले लोग किनारा खींच लेते हैं तब उसके जीवन का संचालन उसके स्त्री धन से ही हो सकता है। प्रायः यह पाया जाता है कि

पति और पिता के न रहने पर स्त्री का जीवन-यापन कठिन हो जाता है। उसे अपना जीवन चलाने के लिए अर्थ-सम्पत्ति की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति धन से ही हो सकती है। अतः अनेक उदार मन वाले धर्मशास्त्रकारों ने नारी को पुरूष के समान अधिकार को स्वीकार किया है।

प्राचीन काल की तुलना में पूर्व मध्यकालीन शास्त्रकारों ने स्त्री धन के सम्बन्ध में उदारतापूर्वक स्त्रियों के अनेक अधिकारों को सहजतापूर्वक स्वीकार किया है।

गणिकाएँ तथा नृत्य संगीत से जीवन-यापन करने वाली स्त्रियाँ

विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओं की भाँति भारत में भी वेश्यावृत्ति का इतिहास अति प्राचीन काल से आरम्भ होता है। ऋग्वेद से स्पष्ट होता है कि उस काल में कुछ ऐसी भी नारियाँ थीं, जो सभी की थीं। ऋग्वेद में मरुत् गण (अन्धड़ के देवता) विद्युत् के साथ उसी प्रकार संयुक्त माने गये हैं, जिस प्रकार युवती वेश्या से पुरुष लोग संयुक्त होते हैं।[28] प्राचीन काल में वेश्यावृत्ति अपनाने वाली गणिकाओं का स्थान समाज में अन्य साधारण लोगों से श्रेष्ठ था। गायन, वादन और संगीत के प्रेमी लोग गणिकाओं के

२८- ऋग्वेद १/१६७/४, 'पराशुभ्रा अयासो यग्या साधारण्येव मरूतो मिमिक्षुः ।

प्रति आकृष्ट रहा करते थे। नगर जीवन में मनोरंजन, और आनन्द- उल्लास के लिए गणिकाओं का महत्त्व था। गणिका का जीवन संगीत और ललित कला का सम्मिश्रित स्वरूप था, जो उनका प्रधान व्यवसाय भी था। कई स्थानों पर जार (गुप्त प्रेमी) का उल्लेख है।[29] गौतम के अनुसार ब्राह्मणी वेश्या को मारने पर प्रायश्चित्त की कोई आवश्यकता नहीं है; केवल ८ मुट्ठी अन्न दान कर देना ही पर्याप्त है।[30] मनु के अनुसार वेश्या के हाथ का भोजन ब्राह्मण के लिए वर्जित माना जाता है तथा धूर्त वेश्याओं को दण्डित करने के लिए राजा को प्रेरित किया है।[31]

महाभारत में वेश्यावृत्ति का एक स्थिर संस्था के रूप में उल्लेख है। गान्धारी के गर्भवती रहने के कारण धृतराष्ट्र की सेवा में एक वेश्या रहती थी। युधिष्ठिर ने कौरवों की वेश्याओं को शुभ सन्देश भेजे थे। जब श्री कृष्ण कौरवों की सभा में शान्ति स्थापना का सन्देश लेकर गये थे तो वेश्याएँ भी उनके स्वागतार्थ आयीं थीं। जब पाण्डवों की सेना ने युद्ध के लिए कूच किया तो गाड़ियाँ, हाटें एवं वेश्याएँ उनके साथ चली।[32]

२९- गौतम २२/१४/ मनुस्मृति ८/३७१ ।
३०- गौतम २२/२७
३१- मनुस्मृति ०४/२०९ ; ८/२५९ ।
३२- महाभारत आदिपर्व ११५/५९; वनपर्व २३९/३७ तथा कर्णपर्व ९४/२६

बौद्ध युग में गणिकाओं का विकास तीव्र-गति से हुआ था। इसके पूर्व युग में ललित कलाओं की विकास की गति मन्द थी। समाज में धीरे-धीरे इनका विकास हो रहा था। बौद्ध युग में तो नगर का उल्लास और विकास गणिकाओं के संयोग से ही मुखरित होता था। नगर की शोभा और सुन्दरता उसकी उपस्थिति से आलोकित होती थी। वैशाली नगर का भ्रमण करके लौटा हुआ एक श्रेष्ठि राजगृह, आकर सम्राट बिम्बिसार से वहाँ की सूचना देता है, ''महाराज, वैशाली नगरी समृद्ध और ऐश्वर्य सम्पन्न है, वहाँ आम्रपाली नाम की गणिका निवास करती है, जो परम सुन्दरी, रमणीया, नयनाभिराम, सुन्दरवर्णा, गायन-वादन, नृत्य विशारदा तथा अभिलषित बहुदर्शनीया है। यही नहीं, उस समय राजगृह में भी अत्यन्त रूपवती और संगीत दक्ष सालवती नाम की एक गणिका थी जिसका गणिकाभिषेक हुआ था। ये दोनों राज नर्तकियाँ थीं, जिनको राज्य की ओर से सम्मान और आदर प्राप्त था और इसीलिए समाज में भी उनका शीर्ष स्थान था । इन श्रेष्ठ नर्तकियों के अन्तर्गत अन्य सुन्दर और संगीत नृत्य में दक्ष नर्तकियाँ होती थी जो इनके दल की शोभा बढ़ाती थीं। इनका रहन-सहन राजसी और ऐश्वर्ययुक्त होता था। राज्य की ओर से किसी गणिका का गणिकाभिषेक किया जाना उसके लिए सम्मान और गौरव की बात होती थी। उच्च पदाधिकारी तथा अभिजात वर्ग इनकी ओर केवल आकृष्ट ही नहीं होता था बल्कि इनकी कला का

यथोचित सम्मान भी करता था।[33] अपनी धन सम्पत्ति में से कुछ न कुछ भाग निरन्तर इन्हें अर्पित करता था और इनसे अपनी विलासिता और कामुकता तुष्ट करता था। राज-महोत्सवों और प्रजारंजन के लिए प्रायः नृत्य तथा संगीत का कार्यक्रम आयोजित होता रहता था। ये नर्तकियाँ अपने आकर्षक और हृदयग्राही प्रदर्शन से सबको मुग्ध कर लेती थीं। भगवान बुद्ध ने आम्रपाली का निमन्त्रण और आतिथ्य स्वीकार करके उसकी प्रतिष्ठा को प्रतिभासित किया। गणिकाओं से उत्पन्न पुत्र समाज द्वारा सम्मानित और आदर का पात्र था। अधीतकाल में उसे कभी हेय अथवा उपेक्षित दृष्टि से नहीं देखा जाता था। राजगृह की राजनर्तकी सालवती से उत्पन्न जीवन उस काल का विख्यात राजवैद्य बना। ये गणिकाएँ प्रति रात्रि अपने संगीत प्रदर्शन से सहस्राधिक मुद्राएँ अर्जित कर लेती थीं। कभी-कभी गणिका अपने एक निष्ठ प्रेम के कारण अपने प्रेमी की प्रतिक्षा वर्षो करती थी, तथा इस अवधि में वह किसी का ताम्बूल तक नहीं स्वीकार करती थी।[34] उस युग में ऐसी गणिकाएँ भी थीं जो अवसर पड़ने पर मन और मस्तिष्क का संतुलन बनाये रखती थीं। कोमल भावना और आसक्ति से प्रभावित नहीं होती थीं। सुलसा ऐसी ही गणिका थी, जो एक दस्यु से प्रेम

३३- जातक, ४/२४०-५० ; ।

३४- जातक, ४/२४०-५०; महावग्ग, ६/३०/२, ६/३०/५ ।

करती थी। पर वह दस्यु अंतस् क्रूर और छली था। वह उस नर्तकी के समस्त आभूषण ले लेना चाहता था। उसके लिए वह सुलसा को सुसज्जित करके धूर्ततापूर्वक एक पहाड़ी पर ले गया। उस नर्तकी ने उस दस्यु के मन्तव्य को भली प्रकार से समझ लिया और उसे आलिंगित करते हुए पहाड़ी के नीचे ढकेल दिया, जिससे उसकी मृत्यु हो गई।[35] इस प्रकार सहृदय, क्रूर, छली आदि अनेक प्रकार की गणिकाओं का उल्लेख जातकों से प्राप्त होता है। धन-लोलुप गणिकाएँ भी थीं, जिनके सम्मुख धन ही सब कुछ था। एक श्रेष्ठि पुत्र अपनी प्रेमिका गणिका को एक सहस्र, कार्षापण प्रति रात्रि का प्रदान करता था। एक दिन ऐसा हुआ कि उसके पास एक भी मुद्रा नहीं थी और जब वह उस गणिका के पास गया तो उसने मुद्राएँ न मिलने पर उस प्रेमी को बाहर निकाल दिया, परिणाम-स्वरूप वह संन्यासी बन गया ।

परवर्ती काल में ये गणिकाएँ विभिन्न नामों से प्रसिद्ध हुईं। नर्तकी, सामान्या, रूपजीवा, वेश्या, देवदासी आदि अनेक नाम इनके लिए प्रसिद्ध थे। समाज का एक वर्ग ऐसा था जो इनके सान्निध्य में जाकर इनके व्यवसाय को प्रोत्साहित करता था। इसका प्रधान कारण लोगों की कामजनित भावना, संगीत-नृत्य के प्रति आकर्षण तथा सौन्दर्य पिपासा थी। मृच्छकटिक की बसन्त सेना ऐसी उच्चचरिता और गुण सम्पन्न गणिका थी जो गणिकावर्ग के

३५- जातक, ३ पृष्ठ ४३५-३८.

लिए आदर्श थी।[36] अनेक प्रकार की गणिकाओं का उल्लेख कुट्टनीमतम् समयमातृका, प्रबन्धचिन्तामणि, मानसोल्लास, राजतरंगिणी आदि ग्रन्थों में हुए हैं।

विभिन्न प्रकार की देवदासियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है जो मन्दिरों की सेवा से सम्बद्ध थीं। जब देवमन्दिरों का निर्माण हुआ तो उनके वैभव, ऐश्वर्य के लिए नृत्य और गान करने वाली सुन्दरियाँ रखी गई जो देवदासी कहलायीं। देवदासी प्रथा का उल्लेख हमें बौद्ध युग के बाद देखने को मिलता है। ग्रीक लेखकों ने देवदासी का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र में वेश्याओं का वर्णन तो है, किन्तु देवदासी का नहीं।[37]

मेघदूत तथा अनेक पुराणों में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में अनेक देवदासियाँ नृत्य-गान में व्यस्त रहा करती थीं।[38] पुराणों में यह कहा गया है कि मन्दिर सेवा के लिए सुन्दरियों को क्रय करके प्रदान करना चाहिए। कभी-कभी निःसन्तान व्यक्ति अपनी पहली सन्तान को मन्दिर को दान कर देते थे, जिससे यह प्रथा और विकसित हुई। अल्बीरूनी सहित अनेक अरब लेखकों ने देवदासियों के विषय में लिखा है।

३६- मृच्छकटिक नाटक ।
३७- अर्थशास्त्र, २/२७ ।
३८- मेघदूत, १/३५ ।

राजतरंगिणी, प्रबन्धचिन्तामणि, कुट्टनीमतम् आदि अनेक उत्तर प्राचीन कालीन ग्रन्थों में इस प्रथा का विशद् वर्णन मिलता है। पूर्व मध्य युगीन अभिलेखों में भी देवदासियों का यत्र-तत्र वर्णन मिलता है।

देव मन्दिरों का निर्माण पूजा-अर्चना तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए हुआ था, न कि काम वासना और भौतिक सुख के लिए। पर शनैः-शनैः ऐसे देव मन्दिर कामोद्दीपन के केन्द्र बन गये।

सती प्रथा एवं पर्दाप्रथा

सती शब्द सच्चरित्रता, साध्वी तथा मृत-भर्तका आदि अर्थों में प्रयुक्त किये जाने का चलन भारतीय वाङ्मय में प्राप्त होता है। वाल्मीकि रामायण में इस शब्द का प्रयोग या तो क्रिया अर्थ में किया गया है, या पतिव्रता साध्वी के अर्थ में।[39] महाभारत में यह शब्द एक अच्छी गुणवती और साध्वी स्त्री के लिए प्रयुक्त हुआ है।[40] उसके सधवा या विधवा होने से सतीत्त्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रस्तुत शोध में प्रयुक्त 'सतीप्रथा' के 'सती' से तात्पर्य उस स्त्री से है जो अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उसके साथ चिता में जले।

३६- वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड १२/७६, ६०/१०; युद्धकाण्ड ३३/३२/सुन्दर काण्ड २६/७, ३०/८/

४०- महाभारत आदिपर्व ६६/४७, १८६/४१; विराट पर्व १५/२१, १६/१८; उद्योगपर्व, १७३/१२/.

उत्तरवैदिक साहित्य से सहमरण के सांस्कृतिक विधान का परिचय और भी स्पष्ट रूप से मिलता है। कृष्ण यजुर्वेदीय, तैत्तरीय आरण्यक के छठें प्रपाठक के प्रथम अनुच्छेद में पितृमेध (मृतक संस्कार) का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है। श्मशान पर शव को रखकर कुछ औपचारिकताएँ पूर्ण करने एवं शव के अग्नि संस्कार,के पूर्व विधवा स्त्री को उसके पास लिटाने तथा अथर्ववेद १८/३/१ से भिन्न "विश्वं पुराणमनुपालयन्ती" पाठ के माध्यम से प्रेत से आशीष मांगे जाने का वर्णन है। सायणाचार्य ने इस मंत्र की व्याख्या में लिखा है- "हे मर्त्य मनुष्य या नारी, मृतस्य तव भार्या सा पतिलोकं वृणानाकामयमाना प्रेतं त्वामुपनिद्यते समीपे नितरां प्राप्नोति। कीदृशी। पुराणं विश्वमनादिकालप्रक्तं कृत्स्नं स्त्रीधर्मनुक्रमेणपालयन्ती। पतिव्रतानां स्त्रीणां पत्यासहैव वासः परमोधर्मः। तस्यै धर्मपत्न्यै त्वमिह लोके निवासार्थमनुज्ञां दत्वा प्रजां पूर्व विद्यमानां पुत्रादिका द्रविणं धनं च धेहि संपाद्य, अनुजानीहीत्यर्थः"। पुनः पाणिग्रहणकर्त्ता दिधिणु उसे चिता से उठा देता है तथा विधवा वर्ण क्रम से ब्राह्मण मृतक के हाथ से स्वर्ण क्षत्रिय मृतक के हाथ से धनुष और वैश्य मृतक के हाथ से मणि को ग्रहण करती है। पुनः अग्निदेव की उपासना की जाती है तथा प्रेत को भस्म करके उसे पतिलोक में पहुँचाने की प्रार्थना की जाती है। तैत्तरीय आरण्यक का यह क्रम स्पष्ट इंगित करता है कि इस प्रसंग में भी विधवा जलायी नहीं गयी और इस मंत्र का प्रयोग शान्तिकर्म में न करके दाह-संस्कार के समय की औपचारिकताओं के साथ

किया गया है। इस संस्कार से सम्बन्धित कुछ अस्पष्ट गुत्थियों को वृहद्देवता निराकृत कर देता है।[41] जिसमें लिखा है कि अंजनकर्म मे स्त्रियों को आशीष देने के उपरान्त मृत व्यक्ति का भ्राता चिता पर आरूढ़ विधवा को सहमरण से रोकता है और यह भी बताता है कि यदि देवर न हो तो होता को ही यह कार्य करना चाहिए, क्योंकि एक ब्राह्मण का कहना है कि प्रेतानुगमन नहीं होना चाहिए। अश्वलायन गृह्यसूत्र[42] में विस्तार के साथ मृतक संस्कार का वर्णन है। इसमें गड्ढा खोदकर जंघा तक गहरा करके उसे शमी शाखा एवं उदक से पवित्र करके दक्षिण-पूरब में आहवानीय, उत्तर-पश्चिम में गाहर्यपत्य और दक्षिण-पश्चिम में दक्षिणाग्नि की स्थापना करके एक कुशल व्यक्ति इन अग्नियों के बीच वेदी पर चिता का निर्माण करता है और इसके बाहर कृष्ण मृग चर्म विछाकर उस शव को स्थापित करके उसके पार्श्व में पत्नी को लिटा देता था।[43] मृतक क्षत्रिय के हाथ में धनुष रख दिया जाता था। पुनः देवर, वृद्धदास या अन्तेवासी (शिष्य) मंत्र का पाठ करते हुए उस मृतक की स्त्री को उठा लेता था। बौधायन ने चिता पर 'अथास्य भार्या उपसंवेशयति' लिखकर विधवा का चितारोहण तो वर्णित किया, किन्तु वे भी

४१- शौनकीय वृहद्देवता (५००-३५० ई०पू०) हिन्दी अनुवाद राजकुमार राय, १९६३, पृष्ठ २१७-१९ ।
४२- अश्वलयायन गृह्हसूत्र, अध्याय ४ समस्त ।
४३- अश्वलयायन गृह्यसूत्र ४/२/१०-१९ ।

विधवा सहमरण को प्रमाणित करने योग्य कुछ नहीं लिखते।[44] बौधायन पितृमेघसूत्र १/८/१-५ में पूर्ववर्णित सभी मंत्रों के पाठ के बाद विधवा को चिता से दूर करने का उल्लेख है। बौधायन के इस कथन की प्रेत पत्नी को आजीवन लवणरहित भोजन, भू-शयन एवं ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। ये भी विधवा के मृतपति के साथ भस्म न होने की बात पुष्ट होती है। कौशिक गृह्यसूत्र विधवा सहमरण को नकारता है। भारद्वाज गृह्यसूत्र २/१/ में स्पष्ट रूप से कहा गया कि पत्नी को समय से नियमित रूप से गृह्याग्नि को प्रज्जवलित रखना चाहिए पति की मृत्यु के बाद विधवा उस पवित्राग्नि को प्रज्जवलित रखे। वाल्मीकि रामायण में विधवा नारियों के विषय में महत्त्वपूर्ण उल्लेख सुलभ हैं। किन्तु उसमें एक को छोड़कर कहीं भी पति की चिता पर विधवा को दाह का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ राजा दशरथ; वालि, या रावण की मृत्यु के बाद किसी भी विधवा ने अपने पति के शव के साथ सती होने की परम्परा का पालन नहीं किया। संभवतः इसीलिए डॉ० यस० सी०डे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि रामायणकालीन समाज में विधवा दाह की प्रथा का प्रचलन नहीं था।[45]

४४- बौधायन पितृमेघ ७/७/७, १/२/८-४; भारद्वाज पि०सू० १/२२ (शान्ति कर्म के लिए)।

४५- एसी०सी०डे०, हिस्टोरिसिटी ऑफ रामायण एण्ड दि इण्डो आर्यन सोसाइटी इन इण्डिया एण्ड सीलोन, १६७६, पृ० १८५।

सम्पूर्ण रामायण में मात्र उत्तरकाण्ड १७/८.१४ में ब्रह्मर्षि बृहस्पति पुत्र कुशध्वज की दुहिता वेदवती द्वारा रावण को अपना परिचय देते हुए बताया गया है कि पिता की इच्छा सुनकर मुझसे विवाह की इच्छा वाले राक्षसराज शुंभ ने कुपित होकर रात्रि में मेरे पिता जी की हत्या कर डाली और मेरी माता पति की चिता के साथ अग्नि में प्रवेश कर गयीं।[46] किन्तु सहमरण का यह उदाहरण रामायण में नितान्त एकाकी है; जिसे कतिपय इतिहासकारों ने उत्तरकालीन बताते हुए स्वीकार नहीं किया।

शान्तिकुमार नानूराम व्यास की धारणा है कि कौशल्या, तारा एवं मन्दोदरी के प्राणत्यागपरक उक्तियाँ पतिशोक की प्रारम्भिक तीव्रता मात्र सूचित करती हैं; प्राणत्याग का कोई दृढ़निश्चय नहीं।[47]

महाभारत में विधवा नारी से सम्बन्धित अनेक धारणाएँ मिलती हैं। सुविख्यात कौरव-पाण्डव युद्ध में अंधक वृष्णियों सहित बड़ी संख्या में वीर योद्धाओं के मारे जाने पर उनकी पत्नियाँ विधवा हुईं। सभी के द्वारा मृत पति का अनुसरण किया गया हो, ऐसा तो नहीं प्रतीत होता तथापि पूर्वमरण; सहमरण, अनुमरण के उदाहरणों के साथ संतान एवं वंशवृद्धि के लिए वैधव्य दुःख को सहकर

४६- अयोध्याकाण्ड ६६/५; ६६/१२/
४७- शान्ति कुमार नानूराम व्यास, रामायण कालीन समाज, पृष्ठ-१८०।

जीवित रहने वाली विधवाओं के महाभारत में अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

बौद्ध एवं जैन साहित्य में विधवा दाह का वर्णन अपेक्षाकृत कम है। कतिपय जैन काव्यों में इस प्रथा का विरोध ही किया गया है। जटा सिंह नंदी और अस्सग जैसे कवियों ने इसकी तीव्र भर्त्सना की है। वरांगचरित में राजकुमार वरांग की घुड़सवारी में घोड़े द्वारा बहुत दूर ले जाने पर और उनके गुम हो जाने पर उनकी पत्नी ने अपने श्वसुर से कहा कि वह अपने पति के बिना जीवित रहने में असमर्थ है, अतः उसे कृपा करके अग्नि में प्रवेश करने की अनुमति दी जाये। राजा अपनी पुत्रवधू की बात सुनकर अत्यन्त दुखी हुआ और अश्रुपात करता हुआ बोला तुम उस किसी भी विधा के प्रसंग में विचार न करो जो अप्रशंसित और बुद्धिजीवियों द्वारा निन्दित है तथा भविष्य में कष्टदायी है उसने आत्महत्या के अनेक प्रकारों में अग्नि में प्राणत्यागना विधि को भी बताया जो विद्वानों द्वारा निन्दित विद्या थी। इसी प्रकार वर्धमान पुराण में भी राजा बल, स्वयंप्रभा को अग्नि में प्रवेश से रोकते हैं और यह बताते हैं कि इस कृत्य से जो अपराध होगा उसके लिए सैकड़ो बार पुनर्जन्म लेना होगा।[48] जैन सूत्रों में स्त्रियों के पति मरणोत्तर प्राण त्याग के उदाहरण कम ही मिलते हैं। केवल महानिशीथ में एक उल्लेख

४८- एम०जे० कसलिकर, ३५६-६१ ।

है कि किसी राजा की कन्या अपने परिवार को अपयश से बचाने के लिए सती होना चाहती है, लेकिन उसके पिता के कुल में ऐसा प्रचलन नहीं था। इसलिए उसने अपना विचार स्थगित कर दिया।[49]

एक जातक में कहा गया है कि स्त्री का वास्तविक वस्त्र तो पति ही है। उसके न रहने पर १० भाईयों के रहने पर भी वह अनावृत रहती है। बौद्ध साहित्य और जातकों में विधवा दाह से सम्बन्धित घटनाओं का उल्लेख नहीं है। बौद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश के फलस्वरूप अधिकांश विधवाओं ने प्रव्रज्या लेना उचित समझा होगा।

बौद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश मार्ग ने इस प्रथा को मानों समाप्त सा कर दिया था। स्वयं महाप्रजापति गौतमी के साथ ५०० शाक्य नारियों ने दीक्षा ली थी, उनमें अधिकांश विधवाएँ थीं। किन्तु भिक्षुणी संघ की कोई भी सूची हमें इस तरह की उपलब्ध नहीं है। जिससे उनकी संख्या की जानकारी हो। चन्द्र किन्नर जातक[50] के मारे जाने पर उसकी विधवा पत्नी साध्वी स्त्री की तरह विलाप करती है; किन्तु उसके विलाप में कहीं भी अनुमरण के निश्चय की ध्वनि नहीं आती है। महाजनक जातक (५३९) में भी मिथिला के राजा आदि जनक के मारे जाने पर उसकी विधवा पत्नी

४९- आवश्यकचूर्णी, पृ० २६, तुलनीय, कथासरितसागर (पेंजर) जिल्द ४, परिशिष्ट नं०   पृ० २५५ ।
५०- जातक संख्या ४५८ ।

पति के शव के साथ चिता पर नहीं जलती, अपितु चम्पा के ब्राह्मणों के पास रहती है, और वहाँ पुत्र प्रसूत करती है। कुछ ने इस तरह के कठोर जीवन यापन के अपेक्षा आत्महत्या ही उपयुक्त समझा। पुनश्चः बौद्ध संघ में अनाचार व्याप्त हो गया। स्त्रियों की समाज में प्रतिष्ठा गिर गई। जातकों में प्रायः स्त्री को हेय, निन्दय, और कामातुर प्राणी के रूप में चित्रित किया गया है।[51] समस्तजन स्त्री के प्रति शंकालु हो गया था इसलिए आगे के समय में स्त्रियों के लिए विशेष कठोर नियम बने। गुप्त संवत १६१ (५७० ई०) के एरण अभिलेख में वर्णित गोपराज जो माधवराज का पुत्र और शरभराज दौहित्र कहा गया है, ने भानुगुप्त की सामरिक मदद की और युद्धक्षेत्र में मारा गया तथा उसकी विधवा पत्नी ने भी पति की चिता पर ही आत्मदाह किया।[52]

विधवा-दाह के उदाहरण कल्हण कृत राजतंरगिणी में उपलब्ध होते हैं। प्रजावत्सल राजा तुंजीनप्रथम (भौतिक संवत २६६०-२६६८ लगभग १०५ ई०पू०) के मरने पर उसकी पतिव्रता रानी वाक्पुष्टा ने पति के साथ सहमरण किया।[53] डॉ० रघुनाथ सिंह कश्मीर की धरती पर विधवा दाह

५१- जातक कथा संख्या ६२, ६५, ६७, १०७, १२०, १२५, १४५, १६३, १६६, २२०, २१२, २६२, २६३, २६६, २७४, ४३६, ४७२ आदि ।
५२- दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज पृ० २८६-८१ ।
५३- राजतंरगिणी २/६५ वर्षे षट्त्रिशता शान्ते पत्यौ विरहणो ज्वरः। तत्यजे ज्वलन ज्वालानमिन प्रच्छदे तथा।।

का यह प्रथम उदाहरण मानते हैं।[54] वाक्पुष्टा जिस स्थान पर चितारूढ़ हुई थी, उस स्थान का वर्णन कल्हण ने 'वाक्पुष्टाक्वी'' के नाम से किया।[55]

भारतीय विधवा स्त्री लम्बे समय तक परिवार में भरण- पोषण की अधिकारिणी मानी जाती थी। धीरे-धीरे उसके सम्पत्ति अधिकार में विस्तार होने लगा। फलस्वरूप परिवार के लोग सतर्क हो गये। सम्पत्ति पर आसानी से नियंत्रण करने का एक मार्ग सहमरण, अनुमरण को प्रोत्साहित करने से प्रशस्त हो सकता था। फलस्वरूप सम्बन्धियों ने विधवाओं को धार्मिक लाभों की प्रेरणा देकर उन्हें आत्मदाह के लिए प्रेरित किया।

इस प्रकार उन्हें एक तरफ उसकी सम्पत्ति मिल जाती थी, दूसरी तरफ उसके रहन-सहन पर होने वाला खर्च बच जाता था।[56]

पर्दाप्रथा :

भारत में स्त्रियों के लिए पर्दा प्रथा का प्रचलन कब से आरम्भ हुआ इसको लेकर विद्वानों में पर्याप्त मदभेद है। वैदिक युग से पहली सदी ई०पू० तक हिन्दू समाज में पर्दा प्रथा का कोई प्रचलन नहीं था। स्त्रियाँ

५४- राजतंरगिणी २/६५, रघुनाथ सिंह की टीका ।
५५- राजतंरगिणी २/५७ एवं इसी श्लोक पर रघुनाथ सिंह की टीका, ४०२/४०४ ।
५६- एम०आर० ईश्वर ; कलकत्ता रिव्यू ८८७ में प्रकाशित लेख सती, पृष्ठ २५६, एडवर्ड थामसन, सती, पृष्ठ ४७, पेंजर, दि ओसन ऑफ स्टोरी, जिल्द ४, पृष्ठ २६२ ।

बिना पर्दे के स्वच्छन्दतापूर्वक आजासकती थीं तथा पुरुषों के साथ हिल-मिल सकती थी। सह शिक्षा स्त्री-पुरुष एक साथ ग्रहण कर सकते थे। अथर्ववेद में कहा गया है कि "वह मंगल बढ़ाने वाली वधु हमारे घर में आयी है, आओ इसे देखो, वधु को देखने के लिए युवतियाँ तथा अनेक वृद्धा माताएं एकत्र हैं।[57] नवविवाहिता बहू, सास, ननद और देवरों पर साम्राज्ञी बनकर जाती थी, जो परदा के विरुद्ध उन्मुक्तता का संकेत देता है। उस युग में नारियाँ विदथ (सभा और समिति) तथा समाज में समान रूप से सम्मिलित होती थीं।[58] स्त्री के लिए सभावती शब्द का भी प्रयोग हुआ है। उस युग में स्त्रियाँ सम्पत्ति विषयक अधिकार के लिए न्यायालय में भी जाती थीं।[59] नारियाँ समन (उत्सव तथा मेला) में स्वच्छन्दतापूर्वक जाती थीं। अष्टाध्यायी में पाणिनी ने 'असूर्यपश्या राजदार' का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ है कि वह स्त्री जिसे सूर्य भी न देख सके, इसकी व्याख्या महाभारत में दिखाई पड़ती है। द्रौपदी का जुआ खेलते समय सभा भवन में आना परदा प्रथा के विरुद्ध प्रमाण है। कुन्ती, गान्धारी आदि स्त्रियाँ परदा करते नहीं दिखती हैं। यद्यपि महाभारत मे एक स्थल पर कहा गया है, "जिन स्त्रियों को न तो चन्द्रमा ने देखा था और न सूर्य ने, वे

५७- याज्ञ० १/८७/ पर अपरार्क का भाष्य ।
५८- मनु पर टीका, ५/१५७ ।
५९- याज्ञ० की पर टीका ।

कौरवेन्द्र राजा धृतराष्ट्र के बन जाने पर शोकार्त होकर राजमार्ग पर चलने लगीं।[60]

जातकों में वर्णित है कि कतिपय रानियाँ चारों ओर ढँके हुए रथों में जाती थीं। अक्सर रानियाँ स्वयं परदा नहीं किये होती थीं और बिना परदा के मन्त्रियों और अधिकारियों से वार्ता करती थीं।[61] प्रायः नारियाँ जब अपने बड़े सम्बन्धियों के सम्मुख जाती थीं तो आदर और सम्मान व्यक्त करने के लिए परदा कर लेती थीं। दुष्यन्त की राजसभा में जब शकुन्तला गयी तो उसने अपना मुँह आवरण (पर्दा) से ढक किया था जिसे बाद में अपने मुख पर से हटा दिया।[62]

महाकाव्यों के युग में इसका प्रारम्भ हो गया था। अभिजात वर्गों और राजपरिवार की नारियाँ अपने सम्मान और लज्जाके भाव को प्रकट करने के लिए परदा डाल लिया करती थीं ताकि लोगों की दृष्टि उन पर न पड़ सके ।

रामायण काल में जब सीता राम के साथ वनगमन के लिए तैयार हुईं तो यह कहा गया कि जो महिला आकाशचारियों के द्वारा भी कभी नहीं देखी गई, वह

६०- महाभारत आश्रमपर्व, १५/१३ ।
६१- जातक ५/४३६; ६, ३१/३३; ६, २३६, ३००
६२- रघुवंश, १६/५६; कुमार संभव, ७/२; अभिज्ञानशाकुन्तलम् पृष्ठ १०४ ; मालिविकाग्निमित्र २/४४, रघुवंश १/३२; ४/६५, १६/२५

अब राजमार्ग पर सभी लोगों के द्वारा देखी जायेगी। यद्यपि यह कथन अतिशयोक्ति प्रतीत होता है, क्योंकि रामायण में यह कहा गया है कि विवाह, स्वयंवर, यज्ञ आदि के अवसर पर स्त्री निर्विरोध सम्मिलित हो। रामायण से भी परदा प्रथा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। नारी के लिए रामचन्द्र जी का कथन है कि गृह, वस्त्र, प्रकार और पार्थक्य उसके लिए व्यर्थ है, उसका चरित्र ही परदा (आवरण) है।[63] कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा जैसी स्त्रियाँ कहीं भी परदा में नहीं वर्णित की गईं हैं।

बौद्ध युग में कतिपय रानियाँ आवरणयुक्त रथों में जाती थीं। परन्तु प्रायः ये रानियाँ अवगुंठन हीन ही रहती थीं और बिना परदे के स्वच्छन्दपूर्वक मन्त्रियों और अधिकारियों से वार्ता करती थीं।[64] अनेक साहित्यिक ग्रन्थों से भी पर्दा प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। भास (दूसरी सदी ईसवी) के नाटकों में परदे का वर्णन हुआ है। 'प्रतिमा' नाटक में सीता परदे के साथ रंगमंच पर आती है। 'कादम्बरी' में बाण ने कादम्बरी, महाश्वेता और उसकी सखियों को कहीं भी परदे में दर्शित नहीं किया है। 'हर्ष चरित' में अवगुंठन का वर्णन है तथा राज्यश्री द्वारा अपने पति के सम्मुख आवरण करने का संकेत है।[65] मृच्छकटिक

६३- रामचरितमानस, ६/१७/३२
६४- जातक, ५/४३६; ६, ३१-३३; ६, २३६, ३०० ।
६५- हर्षचरित, उच्छ्वास ४, तत्र-अरूणांशुकावगुठितमुखी वधूमपश्यत्।

में उल्लिखित है कि वधू बनते ही वसंतसेना ने अपना मुँह ढक लिया था।[66] किन्तु साधारण जनता में परदे का कहीं रिवाज नहीं था। गुप्त युग में अजन्ता, एलोरा, सांची, भरहुत आदि के चित्रों और मूर्तियों में पर्दे का कहीं भी चित्रण नहीं है। सम्राट हर्ष ने लिखा है कि कन्या के लिए परदे की कोई आवश्यकता नहीं है।

कभी-कभी वधुएँ परदे का प्रतिरोध भी करती थीं। बुद्ध की पत्नी जोया जब पति के साथ जा रहीं थीं तो उससे कहा गया कि पर्दा डाल ले, इस पर उसने कहा कि जब शरीर संयत है, इन्द्रियाँ सुरक्षित हैं, आचार राग-रहित है और मन प्रसन्न है तब कृत्रिम आवरण से क्या लाभ।[67]

फाह्यान, ह्वेनसांग, ईत्सिंग ने कहीं भी स्त्री द्वारा पर्दे के प्रयोग का उल्लेख नहीं किया है। कल्हण की राजतरंगिणी में भी पर्दा प्रथा का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। वृहत् कथामंजरी और कथा सरित्सागर जैसे ग्यारहवीं सदी के कथा साहित्य में स्त्री के पर्दा प्रथा का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। बारहवीं सदी तक के ऐतिहासिक साहित्य में पर्दा-प्रथा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।

६६- मृच्छकटिक, अंक १० ।
६७- ललित विस्तर, गोपा शाक्यकन्या न कंचन दृष्टवा वदनं दादयतिस्म। ये कामा संवृत्ता गुप्तेन्द्रिया सुनिवृताश्च मनः प्रसन्नां किं ताहशानां वदनं प्रतिच्छादयित्वा ।।

पूर्व मध्य युग तक परदा प्रथा चाहे उच्च समुदाय और राजपरिवार में भले ही रही हो, मगर साधारण जनता में इसका पूर्ण प्रचलन नहीं था। स्त्रियाँ बिना प्रतिबन्ध के अवगुंठन हीन होकर घूमती थीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि पर्दा प्रथा का प्रचलन बारहवीं सदी के बाद ही हुआ; जब देश और समाज विदेशी आक्रमणों से रह-रहकर आक्रान्त होने लगा थाऔर भारतीय महिलाओं की सुरक्षा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण बन चुका था। परिणामस्वरूप व्यवस्थाकारों ने हिन्दू समाज में अपनी नारियों की रक्षा के लिए पर्दा जैसा प्रतिबन्ध लगाया, ताकि सुन्दर स्त्रियों को कोई न देख सके। बाद में आकर पर्दा हिन्दू समाज का प्रधान अंग बन गया । पर्दे का प्रचलन उत्तर तथा दक्षिण भारत दोनों में व्याप्त है।

स्त्रियों के प्रति समाज का दृष्टिकोण

प्राचीन भारत में स्त्रियों के प्रति दोहरा मानदण्ड अपनाया गया। कभी तो उन्हें देवी मानकर इनकी उपासना की गई और उन्हें सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की गईं और कभी उन्हें हीन मानकर उनके ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये। कुछ शास्त्रकारों के अनुसार सारी हीनता नारी में ही उपलब्ध होती हैं, कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति स्त्री के दोषों को ही अपने सौ वर्ष के जीवन भर, सौ जिह्वाओं से गिनता रहे, तो भी वह उसके दोषों का बखान पूरा नहीं कर सकता, और पूरा करने से पहले भले

ही उसकी मृत्यु हो जायेगी।[68]

महाभारत में उल्लिखित है, यदि उनकी कामना करने वाला पुरूष न हो और उन्हें परिजनों का भय न हो, तभी मर्यादा में रहने वाली स्त्रियाँ मर्यादा में रहती हैं, अन्यथा वे कभी मर्यादा में नहीं रहती। उन्हें अवसर और स्थान नहीं मिल पाता, न ही प्रार्थना करने वाले पुरूष, नहीं तो वे साध्वी नहीं रह सकतीं।[69] नारी के प्रति हिन्दू समाज का व्यवहार दिनों-दिन कठोर होता गया। उत्तरवैदिक काल से पुरुष का उसके प्रति अविश्वास की भावना बढ़ती गई।

बौद्ध युग में स्वयं महात्मा बुद्ध ने प्रारम्भिक काल में स्त्रियों को संघ प्रवेश की अनुमति नहीं दी थी। वे जानते थे कि उनके प्रवेश से संघ के नियम और व्यवस्था भंग हो जायेंगे। स्त्रियों के संघ में प्रवेश को लेकर उनके शिष्य आनन्द ने उनसे आज्ञा प्राप्त कर ली। किन्तु अन्ततोगत्वा महात्मा बुद्ध ने कह दिया कि स्त्रियों के प्रवेश से धर्म चिरस्थायी न रह सकेगा। जिस प्रकार पाला पड़ने पर सारी फसल नष्ट हो जाती है अथवा कीड़े लगने से गन्ने की खेती शीघ्र समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार स्त्रियों के प्रवेश से धर्म भी विनष्ट हो जाता है। इस कथन से यह प्रतीत

६८- यदि जिह्वसहस्तं स्याज्जीवेच्च शरदां शतम् ।
अनन्यकर्मास्त्री दोषाननुक्त्वा निधनं ब्रजेत ।।
महाभारत,१२/७६/६

६९- स्थानं नास्ति क्षणेनास्ति न च प्रार्थयिता नरः ।
तेन नारद नारीणां सतीत्वभुपजायते ।। पद्मपुराण, ४६/६

है कि महात्मा बुद्ध को स्त्रियों के प्रति बहुत अधिक विश्वास और भरोसा नहीं था। स्त्रियों का अस्थिर मन, चंचल प्रवृत्ति, नियम को पूर्णतः पालन करने की क्षमता रहितता इस अविश्वास के प्रमुख कारण थे। मनु के अनुसार स्त्रियाँ सुन्दर रूप की परीक्षा नहीं करतीं, न ही युवावस्था का ही ध्यान रखती हैं, बल्कि पुरूष चाहे सुन्दर हो या कुरूप उसके साथ सम्भोग करती हैं।[70]

महाभारत में कहा गया है कि यदि स्त्री कुमार्ग में जाय तो दोष उसके पति का है, पत्नी का नहीं।[71] मैत्रायणी संहिता में स्त्री को 'अनृत' अर्थात् झूठ का अवतार कहा गया है।[72]

ऋग्वेद में "नारी का मन दुर्दमनीय" कहा गया है। ऋग्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण के अनुसार "स्त्रियों के साथ कोई मित्रता नहीं है। उनके हृदय भेड़िये के हृदय हैं। तैत्तिरीय संहिता का कथन है- "अतः स्त्रियाँ बिना शक्ति की हैं, उन्हें दाय नहीं मिलता। वे दुष्ट से भी बढ़कर दुर्बल ढंग से बोलती हैं।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्त्री, शूद्र, कुत्ता एवं कौआ में असत्य, पाप एवं अंधकार विराजमान रहता है, "पत्नियाँ घृत या वज्र से हत होने पर तथा बिना

७०- मनु ०९/१४/ नैता रूपं परीक्षयन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येवभुंजते ।।
७१- शान्तिपर्व २६७/३८
७२- मैत्रायिणी संहिता, १/१०/११ ।

पुरुष के होने पर न तो अपने पर राज्य करती हैं और न दाय (सम्पत्ति भाग) पर। धर्मशास्त्रकारों के अनुसार स्त्रियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं। सभी मामलों में आश्रित एवं परतन्त्र है, बचपन में, विवाहोपरान्त एवं बुढ़ापे में, वे क्रम से पिता, पति एवं पुत्र द्वारा रक्षित होती हैं।[73] उनके अनुसार विधाता ने स्त्री को आश्रित बनाया है, अच्छे कुल की नारियाँ भी स्वतन्त्र होने पर गर्त में गिर जाती हैं।

छठी शताब्दी में वराहमिहिर ने स्त्रियों के पक्ष में ओजस्वी समर्थन किया है। उनके मत के अनुसार स्त्रियों पर धर्म एवं अर्थ आश्रित हैं। उन्हीं से पुरूष लोग इन्द्रिय सुख एवं सन्तान सुख प्राप्त करते हैं। वे घर की लक्ष्मी है। इनको सदैव सम्मान एवं धन देना चाहिए। इसके उपरान्त वराहमिहिर ने उन लोगों की भर्त्सना की है जो वैराग्यमार्ग का अनुसरण कर स्त्रियों के दोषों की चर्चा करते हैं और उनके गुणों के विषय में मौन हो जाते हैं। वाराहमिहिर निन्दकों से पूछते हैं- ''सच बताओ, स्त्रियों में कौन सा दोष है, जो तुम लोगों में नहीं पाये जाते ? पुरूष लोग धृष्टता से स्त्रियों की भर्त्सना करते हैं, वास्तव में वे (पुरुष की अपेक्षा) अधिक गुणों से सम्पन्न होती है।''

स्मृति ग्रन्थों में माता की प्रशंसा एवं सम्मान में बहुत कुछ कहा गया है। गौतम का कहना है कि ''आचार्य (वेदगुरु) गुरुओं में श्रेष्ठ हैं, किन्तु कुछ लोगों के

७३- गौतम, १८/१/

मत में माता ही सर्वश्रेष्ठ है।''

आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा गया है कि पुत्रों को चाहिए कि वह अपनी माता की सदा सेवा करें, भले ही वह जातिच्युत हो चुकी हो, क्योंकि वह महान् कष्टों को सहन करती है। वशिष्ठ धर्म सूत्र के मत से पतित पिता का त्याग हो सकता है, किन्तु पतित माता का नहीं, क्योंकि पुत्र के लिए वह कभी पतिता नहीं है।[74]

याज्ञवल्क्य के अनुसार अपने गुरु, आचार्य एवं उपाध्याय से माता बढ़कर है।[75]

अनुशासन पर्व में कहा गया है कि माता महत्ता में दस पिताओं से यहाँ तक कि सारी पृथ्वी से बढ़कर है, माता से बढ़कर कोई गुरु नहीं है।[76] पाण्डवों ने अपनी माता कुन्ती को सर्वोच्च सम्मान दिया था। किसी भी समाज के सांस्कृतिक उत्कर्ष का मूल्यांकन, उस समाज में स्त्रियों को दिये जाने वाले सम्मान के ऊपर आधारित होता है। इस दृष्टि से स्त्रियों को बहुत अधिक सम्मान दिया जाना भारतीय संस्कृति की समृद्धि को स्पष्ट करता है। स्त्री के मातृस्वरूप को देवकोटि में रखा गया है। इसी प्रकार उसके भार्या तथा गृहिणी स्वरूप को भी इस स्थिति में रख दिया

७४- गौतम २/६५; आपस्तम्ब धर्मसूत्र १/१०/२८/६ ; बौ०ध० २/२/४८, वसिष्ठ १३/४७ ।
७५- याज्ञवल्क्य, १/३५/
७६- अनुशासन पर्व १०५/१४-१६/

गया था कि सभी देवताओं की प्रसन्नता का आधार स्त्रियों की पूजनीयता ही हो जाती थीं। इस सम्मान के अभाव में सभी कार्य निष्फल हो जाते हैं। इसीलिए उन्नति चाहने वाले को उत्सव आदि के अवसर पर स्त्री को सदा वस्त्र, अलंकार, आभूषणादि से पूजित और प्रसन्न रखना चाहिए।

याज्ञवल्क्य ने कहा है कि स्त्री का सम्मान इसलिए करना चाहिए क्योंकि– ''सोमदेवता ने स्त्रियों को पवित्रता गन्धर्वो ने शुभवाणी तथा अग्नि ने सब प्रकार से पवित्र होने की शक्ति प्रदान की है। इसलिए वे पवित्र हैं।[77]

-------::-------

---

७७. याज्ञवल्क्य स्मृति ।

सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम् ।
पावकः सर्वमेध्यत्वं वै योषितो ह्यतः ।।

पंचम अध्याय

द्वितीय नगरीकरण तथा कृषि का विस्तार

वार्ता का अर्थ और महत्त्व

'वार्ता' शब्द वृति के साधन को अभिव्यक्त करता है । प्राचीन काल में अर्थ अथवा धन के उपार्जन से सम्बन्धित विषय के लिए 'वार्ता' शब्द का व्यवहार किया जाता था। अतः 'वार्ता' शब्द मनुष्य के आर्थिक जीवन के कार्य-कलापों से सम्बन्धित था। विवेच्य काल में 'वार्ता' की व्याख्या कृषि, पशुपालन, उद्योग-धन्धों एवं वाणिज्य-व्यापार के परिप्रेक्ष्य में की गयी है।

मानव सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही व्यष्टि एवं समष्टि का उत्कर्ष, उसके आर्थिक जीवन की सम्पन्नता एवं समुन्नति पर आधारित रहा है। मनुष्य के आर्थिक जीवन के आधार-स्तम्भ-उद्यम-कृषि, पशुपालन, उद्योग-धंधे एवं वाणिज्य-व्यापार उसकी आजीविका के साधन बने रहते हैं। भारतीय समाज के आर्थिक क्रिया-कलापों का समायोजन पुरूषार्थ चतुष्टय के जीवन-दर्शन से हुआ है, जिसमें 'अर्थ' गत्यात्मक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। यह सम्बन्ध केवल सिद्धान्त में ही नहीं, बल्कि व्यवहार में भी था। समाज वर्ण और आश्रम के अन्तर्गत रहकर 'अर्थ' नामक पुरुषार्थ के माध्यम से दैनन्दिन जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति तो करता ही था, साथ ही साथ भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष भी करता था। व्यक्ति की मनः आकांक्षा प्रायः अनेकानेक वस्तुएं प्राप्त करने की होती है जो 'अर्थ' के सहयोग से पूर्णता को प्राप्त करती है।[1] इसलिए हिन्दू धर्म शास्त्रकारों ने पुरूषार्थ के अन्तर्गत अर्थ की

नियोजना की। अतः 'अर्थ' मनुष्य के समस्त भौतिक और लौकिक सुख को प्रदान करने वाला विशिष्ट तत्त्व स्वीकार किया गया। अर्थहीनता को महापाप बताया गया।

ऋग्वैदिक युग के आर्य भी भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए धन-सम्पदा, गाय,अश्व इत्यादि की वृद्धि के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे।[2] महाभारत में उच्चतम धर्म मानकर इसकी प्रतिष्ठा और महत्ता स्वीकार की गयी है साथ ही इसे त्रिवर्ग (धर्म,अर्थ और काम) के प्रधान तत्त्व के रूप में माना गया है। प्राचीन भारतीय चिंतको ने धर्मशास्त्र के व्यवहार में अर्थशास्त्र की भी प्रतिष्ठा की है।

याज्ञवल्क्य[3] और नारद[4] आदि विचारकों ने ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। अतः धन की अभिव्यंजना सम्पत्ति से ही की गयी है। धन-सम्पत्ति का आकलन 'अर्थ' के ही रूप में किया गया है जो मनुष्य की भौतिक उपलब्धि से संयुक्त रही है। कौटिल्य ने वाणिज्य-व्यापार के साथ उस भूमि को भी जिस पर रह कर मनुष्य व्यवसाय चलाते हैं अर्थात जहाँ वे बसते हैं उसे "अर्थ" कहा है-

---

१- महाभारत, उद्योगपर्व, ७२/२३-२४।
२- ऋग्वेद, १/७३।
३- याज्ञवल्म्य २/२१। "स्मृत्योविरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः। अर्थशास्त्रातु बलवदुर्मशास्यमिति स्थितिः।।"
४- नारद,- १/१/३६। "यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद्धर्मशास्त्रर्थशारस्त्रयोः। अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमासचरेत्।।"

''मनुष्याणां भूमिरर्थः मनुष्यवती भूमि रित्यर्थः'' कौटिल्य के अनुसार कृषि, पशुपालन और वाणिज्य''वार्ता'' के विषय थे। धान्य, पशु, स्वर्ण, कुण्य और विपिट (कारीगरी) जैसे वार्ता के साधन से राजा अपने कोष और सेना को बलशाली करके शत्रु को अपने आधीन कर लेता था।[5] महाभारत में यह उल्लिखित है कि 'वार्ता' से संसार का पोषण होता था, इसलिए वह लोक का मूल था। इसे सर्वदा धारण (अथवा अनुसरित) करना चाहिए।

मनु ने भी वार्ता के महत्व को स्वीकार किया है तथा व्यावहारिक और लोक-ज्ञान के लिए उसे अनिवार्य माना है।[6] कौटिल्य के अनुसार अर्थशास्त्र एक विज्ञान है तथा राजा एवं मंत्रियों को इसकी जानकारी रखना आवश्यक बताया गया था।[7] परन्तु आधुनिक काल मे सभी शास्त्रों का अध्ययन क्षेत्र निश्चित करते हुए अर्थशास्त्र का क्षेत्र भी काफी संकुचित कर दिया गया और अब धन की उत्पत्ति, उपभोग, विनियम तथा वितरण को ही अर्थशास्त्र का मुख्य विषय माना गया। अर्थशास्त्र की परिभाषा करते हुए एडम स्मिथ ने लिखा है कि अर्थशास्त्र धन

---

५. अर्थशास्त्र १/४ कृर्षि, पशुपालन वाणिज्य चवार्ती। धान्य पशुहरिण्य कुत्यविष्टिप्रदाना दौपकारिकी। तथा स्वपक्षं परपक्षवा वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम्।

६. मनु ७/४३ त्रैविधेभ्यस्त्रयी विद्या दण्डनीतिश्च शाश्वतीम्।
आनन्वीक्षिकी चात्मविद्या वार्तारम्भांश्च लोकतः।।

७. अच्छेलालः प्राचीन भारत में कृर्षि, पृष्ठ- ४।

का विज्ञान है।[8] इस तरह अर्थशास्त्र काफी संकुचित हो गया तथा इसके अन्तर्गत जीवन के केवल आर्थिक पक्ष का ही अध्ययन होने लगा।

रामायण में उल्लिखित राम द्वारा भरत से वार्ता में संलग्न लोगो का कुशल-क्षेम पूछना भी वार्ता के महत्व की पुष्टि करता है।[9] अमरकोश में वार्ता जीविका के पर्याय के रूप में वार्णित है[10] पुराणों में भी वार्ता को आर्थिक जीवन की धुरी माना गया है। कालान्तर में वार्ता के अन्तर्गत अनेक अन्य धंधो को भी सम्मिलित कर लिया गया। मनु ने कृषि, पशुपालन, वाणिज्य एवं कुसीद (व्याज) चारों को ही वैश्यों का कर्म बतलाया है।[11] विष्णु-पुराण के माध्यम से विल्सन महोदय ने वार्ता के अन्तर्गत शिल्पशास्त्र, यंत्रविद्या, मूर्तिलि तथा आयुर्वेद आदि को परिगणित किया है।[12] जबकि देवी पुराण में कर्मान्त को ही इसके अन्तर्गत माना गया है। उपयुर्क्त उदाहरण वार्ता के विकसित एवं विस्तृत होते हुए क्षेत्र की पुष्टि करते है।

विष्णु पुराण में वार्ता को एक विद्यामानकर कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को इसमें सम्मिलित किया गया है। ब्राह्मणों को भी वार्ता का ज्ञान रखने

---

८. स्मिथ, एडमः द वेल्थ आफ नेशन्स, भाग १ पृ० ३७५।
६- रामायण, २/१००/४७, ''वार्तायाः सांप्रंत लोको य सुखमेघते।
१०- अमरकोश, २/६/६०, ''आजीवो जीविका वार्ताः।
११- मनु०, १/६०/।
१२- विष्णुपुराण पिष्णुप्रराण का अनुवाद, भाग १ , पृ०- १२१८।

का निर्देश दिया गया। ताकि वे अपने शिष्यों को इसका ज्ञान प्रदान कर सकें। मत्स्य पुराण में उल्लेख मिलता है कि जब द्वापर युग चक्र के क्रम में आया तो युग-भेद के साथ मति-भेद भी उत्पन्न हुआ, तब मनसः, कर्मणा और वाचा यत्नपूर्वक 'वार्ता' कीनियोजना की गयी।[13] यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि आर्थिक जीवन के विकास क्रम मे कृषि, पशुपालन, उद्योग-धंधों, वाणिज्य व्यापार जैसी वृत्तियों की प्रमुख भूमिका थी तथा इसके सम्यक् अनुशीलन से ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति हुयी। वार्ता, बाद के युगों में भी महत्वपूर्ण बनी रही जिसकी पुष्टि हेमचन्द्र द्वारा वार्ता को वृत्ति से सम्बन्धित मानने से होती है। उपनिषदों ने मोक्ष को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य बताया है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमूलक जीवन के समन्वय पर विशेष बल दिया है। वर्णाश्रम व्यवस्था के विकास के साथ-साथ जैसे ही आश्रम व्यवस्था एवं चतुर्वर्ग तत्पश्चात् त्रिवर्ग जैसी अवधारणाओं का विकास होता है, वैसे ही मोक्ष जीवन के अन्तिम ध्येय के रूप में स्थापित हुआ प्रतीत होता है। परन्तु मनु ने पुरूषार्थ के अन्तर्गत त्रिवर्ग को ही श्रेयस्कर बताया है तथा अर्थ को महत्त्वपूर्ण स्थिति प्रदान किया है।[14]

---

१३. मत्स्यपुराण, १४४/२२१, द्वापेरष्वभिवर्तन्ते मतिभेदस्तदा नृणाम्। मनसा कर्मणा वाचा कृच्छ्वार्ताप्रसिध्यति।।

१४. मनुस्मृति, २/२४;

धर्मार्थादुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ।।"

कौटिल्य ने भी अर्थ को महत्त्वपूर्ण बताते हुए इसे धर्म और काम का आधार बताया है।[15] धर्म, अर्थ और काम तीनों का सम्यक एवं सन्तुलित पालन करने पर मोक्ष जो भारतीय जीवन के विकास कि पराकाष्ठा एवं सफल जीवन की परिणति है, स्वतः प्राप्त हो जाता है। चर्वाक जैसे कुछ आचार्यों ने धन (अर्थ) को सर्व प्रधान तत्त्व माना है। कुछ आचार्यों ने अर्थ के बिना जीवन को निरर्थक और प्रभावहीन माना है।[16] अतः अर्थ पर ही तीनों पुरुषार्थ और चारों आश्रम आश्रित हैं। यदि अर्थ (धन) में कमी हो जाये तो इस पर आश्रित सभी तत्त्व कमजोर एवं मृत प्राय हो जायेंगे। धन या अर्थ से ही धार्मिक कृत्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। जो धन से हीन है वह धार्मिक क्रियाओं से भी च्युत होगा। अर्थविहीन व्यक्ति ग्रीष्म की सूखी सरिता के समान है।[17] अर्थ सम्पन्न व्यक्ति को मित्र, विद्या, गुण, धर्म आदि से युक्त तथा अर्थहीन व्यक्ति को मृतक अथवा चाण्डाल के तुल्य माना गया है। अतः अर्थ ही जगत का मूल माना जा सकता है। स्पष्ट है कि किसी भी देश, राष्ट्र अथवा राज्य का संगठन, उसके निवासियों का जीवन-स्तर, सुख-वैभव, यहाँ तक कि

---

१५. अर्थशास्त्र, १/७/१०-११;
अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः ।
अर्थ मूलो हि धर्मकामाविति ।।"

१६- नीतिशक, ३६ ।

१७- महाभारत, उद्योग पर्व, ८/८;
"अर्थेनहि विहीनश्च पुरूषस्याल्पनेधसः ।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वाः ग्रीष्मे कुसरितो यथा।।"

उनका अस्तित्त्व भी उस देश की विकसित अर्थव्यवस्था पर ही आश्रित है।

स्पष्ट है कि जीवन के सफल संचालन के लिए पोषण तत्त्व उपलब्ध कराने वाली चर्या नितान्त महत्त्वपूर्ण रही है, तभी तो अर्थशास्त्रकार के साथ अन्य शास्त्रकारों ने भी इसे अतिशय महत्त्व कामाना है। 'वार्ता' जीवनार्थ प्राणवत् तथा सदानीरा सरिता के सदृश मानी गई है। धनोपार्जन तथा वृत्ति के साधन व्यापार एवं वणिक् कृत्य को दर्शन तथा पुरूषार्थ के समतुल्य माना गया है– ''आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या'' ।

आर्थिक जीवन के विकास क्रम की आधारशिला

भारतीय समाज के आर्थिक जीवन का विकास धीरे-धीरे क्रमशः विकसित हुआ। वैदिक युगीन प्रारम्भिक आर्यों कर स्थिति कोई बहुत अधिक सुगठित और सुव्यवस्थित नहीं थी। उस समय के लोगों का जीवन आर्थिक दृष्टि से कमजोर और विघटित रूप में ही दिखाई पड़ता है। पूर्व वैदिक युग के लोग प्रधान रूप से पशुपालन और कृषि पर ही निर्भर करते थे। वे अपनी प्रारम्भिक अवस्था में पर्यटन और यायावरी जीवन में अधिक आस्था रखते थे तथा अपने पशुओं को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते रहते थे। उनका कोई स्थायी निवास नहीं रहता था। उनके यायावरी तथा घुमन्तूजीवन के फलस्वरूप उनके लिए पशुपालन उद्योग ही ज्यादा उपयुक्त और सुविधाजनक था। वे अपने पशुओं को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते

रहते थे तथा दस्युओं जैसे विपक्षियों से संघर्षरत रहते थे। नगर और ग्राम्य सभ्यता के ऐसे संघर्षों का विवरण ऋग्वेद में प्राप्त होता है जिसमें इन्द्र को नगरों अथवा दुर्गों को तोड़ने वाला तथापणियों के शत्रु के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनसे यह जानकारी प्राप्त होती है कि यायावरी जीवन को स्थायी बनाने के लिए अनार्यों से अनेक युद्ध किये गये थे।[18] वैदिक समाज में 'आर्यविश्' और 'कृष्टि' दो वर्ग कें बारे में जानकारी प्राप्त होती है। इसमें से पहला वर्ग अभिजात्य वर्ग था तथा दूसरा वर्ग साधारण वर्ग का था। कुछ समय पश्चात 'ब्राह्मण' और 'राजन्य' अभिजात्य वर्ग में आ गये तथा साधारण वर्ग में कृषि, कला, कुसीद और व्यापारी वर्ग के लोग सम्मिलित हो गये। युद्ध करने अथवा आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाने के लिए इन दोनों वर्गों का निर्माण किया गया था, जिनसे की आर्यों को अपना आर्थिक आधार सुदृढ़ करने में सफलता प्राप्त हुई। इस प्रकार आर्य अब स्थायी रूप से निवास करने लगे और आर्थिक रूप से भी मजबूत हुए। यहाँ के मूल निवासियों से युद्ध करके भूमि को छीनकर उन्होंने कृषि की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया तथा सर्वप्रथम एक सुव्यवस्थित आर्थिक आधार की नींव रखी एवं पराजित लोगों को 'दास' और 'दस्यु' बना डाला । ऋग्वेद में इन्द्र की प्रतिमा का मूल्य दस गाय बताया गया था। सर्वप्रथम कृषि के

---

१८. ऋग्वेद, ४/१६/१३; ४/३०/२१ आदि ।

विकास न होने से पहले ऋग्वैदिक कालीन लोग गायों के लिए युद्ध किया करते थे। युद्ध के लिए 'गाविष्टि' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ है 'गायो की खोज' । इससे पता चलता है कि युद्धप्रिय आर्यों के भौतिक जीवन में पशुचारण का विशेष महत्व था। गवेषण, गोणु, गत्य, गम्य आदि शब्द भी युद्ध के लिए प्रयुक्त होते थे। पशु ही सम्पत्ति के ऑकलन के माध्यम थे। इस काल में कृषि योग्य भूमि का अतिक्रमण उतना गम्भीर अपराध नहीं था, जितना की पशुओं का हरण। मंत्रों में पशु-संपदा पाने की मांग की गई है। गायों के अतिरिक्त बकरियाँ, भेड़े, एवं अश्व पाले जाते थे। पशुचारण सामूहिक रूप से किया जाता था । पशुचारण की अपेक्षा कृषि को ऋग्वेद काल के प्रारम्भिक चरणों में गौण स्थान प्राप्त था ऋग्वेद के मूल १०,४६२ श्लोकों में से केवल २४ में ही कृषि का उल्लेख है। ऋग्वेद में एक ही अनाज यव का उल्लेख प्राप्त होता है। पुरातात्त्विक साक्ष्यों में केवल अतरंजीखेड़ा के तृतीय चरण से ही एक प्रकार के जौ एवं चावल के अवशेष मिले हैं।

उत्तर वैदिक युग में आकर आर्य स्थायी रूप से निवास करने लगे और कृषि की तरफ उनका रुझान बढ़ा। कृषि कार्य को अधिकाधिक उन्नत और सुसम्पन्न करने के लिए उन्होंने अपने समाज की रचनात्मक आधार पर व्यवस्था की। सैकड़ों की संख्या में बन्दी बनाये गये यहां के मूल निवासी आर्यों के रक्त के लिए बहुत बड़ी समस्या बन गये थे। जिसका समाधान उन्होंने वर्ण व्यवस्था

की रचना करके तथा उन्हें 'दास' अथवा 'शूद्र' के अन्तर्गत गृहीत करके अपनी सेवा, कृषि कर्म आदि में नियोजित कर दिया। और विजेता के रूप में अधिकाधिक लाभ प्राप्त किया तथा यहाँ के मूल निवासियों को आर्थिक दृष्टि से अपनी इच्छा पर अवलम्बित कर दिया। धीरे-धीरे छोटे-बड़े ग्राम विकसित होने लगे। कालान्तर में आकर उनके नगर भी बसने लगे।

उनका यह उत्कर्ष उनके आर्थिक जीवन की सुव्यवस्था और सुसम्पन्नता के कारण ही संभव हो सका। इस युग तक कृषि और उससे उत्पन्न विविध अन्न उनकी आजीविका के साथ-साथ उनके आर्थिक जीवन का मुख्य आधार बन चुके थे। कृषि सम्बन्धी उनका ज्ञान कोई नया नहीं था। इसकी जानकारी उन्हें भारत आने से पूर्व ही थी। भारत में उन्हें स्थायी आवास मिला। उन्होंने कृषि के प्रति अधिक रुचि दिखलाई तथा उसके विकास में वे अधिक सहायक हुए। भारत में आने पर उन्हें मनोनुकूल प्रकृति, मौसम और एक विस्तृत उर्बर भूभाग मिला। इन सब परिस्थितियों ने उन्हें आर्थिक जीवन के विकास में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया तथा कृषि कर्म को प्रधान रूप में ग्रहण कर पशुपालन को गौण रूप प्रदान किया।

अधीत् युग में आर्थिक जीवन के कृषि, पशुपालन उद्योग, वाणिज्य व्यापार, यातायात के साधन आधार स्तम्भ उद्यम थे। विनिमय के माध्यम के रूप में सिक्के प्रचलन में थे। विवेच्य काल में कृषि लोगों की जीविका

का मुख्य साधन थी। जिसकी महत्त्ता आज भी अक्षुण्ण है। आर्थिक दृष्टि से कृषि की महत्त्ता का ही परिणाम था कि समाज के बहुसंख्यक वर्ग ने इसे अपनी जीविका का प्रमुख साधन बना लिया था। हिन्द-ईरानी युग से ही आर्य कृषि से परिचित दिखायी पड़ते हैं।[19] प्रो० आर०एस० शर्मा ने रेडियो कार्बन विधि के आधार पर राजस्थान और काश्मीर में ५००० ई०पू० के पहले से भी कृषि का होना बताया है।[20] मौर्य युग में कृषि एक विकसित उद्योग था; जिसका विकास उत्तरोत्तर होता गया। भारत वर्ष के सर्व प्रमुख एवं प्राचीन उद्योग कृषि के प्रति विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न धर्मों के अलग-अलग दृष्टिकोण रहे हैं। अथर्ववेद में भूमि को मनुष्य की माता कहा गया है।[21] मनुष्य कृषि करके भूमि का दोहन करता है और फल-फूल, धान्यादि प्राप्त करके जीवित रहता है। इसलिए मनुष्यों को उचित है कि वे इस धान्यादि को साधारण जड़ दृष्टि से न देखें, वरन् उसके अन्दर जो परमात्मा की जीवन-शक्ति है, उसे देखें और उसी दृष्टि सेधान्यादि उत्पन्न करें और उसका सेवन करें।[22] इस प्रकार कृषि कर्म का दृष्टिकोण व्यापक है और इसलिए सर्व जनहित की भावना को मन में जाग्रत कर उत्तम धान्य का

१६- अच्छे लाल ; प्राचीन भारत में कृषि, पृष्ठ ३५४
२०- शर्मा, आर०एस०; एशियेन्ट इंडिया (एनसीआरटी बुक-११)
२१- अथर्ववेद, १२/१/१२; ''माता भूमिः पुत्रोउहं पृथिव्याः ।।''
२२- अच्छे लाल ; प्राचीन भारत में कृषि, पृष्ठ ३६६

उत्पादन ही वेद में धर्मयुत बतलाया गया है।[23] तैत्तिरीय उपनिषद में अन्न को ब्रह्म तथा सर्व प्राणी जगत का प्रणेता कह कर कृषि की उपयोगिता सिद्ध कर दी गई है और यहीं पर सर्वप्रथम हमें अधिक अन्न उत्पन्न करने के संदेश भी सुनाई देते हैं।[24]

महाकाव्यों में भी कृषि को महत्त्वपूर्ण उद्योग के रूप में चित्रित किया गया हैं। इस युग में कृषि के आर्थिक पक्ष के साथ-साथ धार्मिक परिकल्पना एवं विधि-विधान से संपृक्त होना इसकी उपयोगिता की स्पष्ट घोषणा करता है। भारतीय जीवन दर्शन एवं उसकी चिन्तन पद्धति तथा क्रियाकलाप सभी धार्मिक परिच्छाया से अनुप्राणित एवं संचालित होते हुए दिखलाई पड़ते हैं। किसी भी सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के प्रारम्भिक स्तर पर उसके कार्य दैवीय शक्ति से ही प्रेरित जान पड़ते हैं, क्योंकि उसकी दृष्टि में दैवीय शक्ति ही सर्वोपरि होती है।

रामायण में राजा जनक[25] तथा महाभारत में राजा दुर्योधन को हम यज्ञ विज्ञान के अन्तर्गत हल चलाते हुए पाते हैं। राजा समारोहों में राजाओं का हल

२३- यजुर्वेद, ४/२०; ''सुस्याः कृषिस्कृधि।''
२४- तैत्तिरीय उपनिषद, ३/३
२५- रामायण १/६६/१४;
''अध में कृषतः क्षेत्रं लांगला दुत्थितामया ।
क्षेत्रं शोधयता मन्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता ।।''

चलाना एक अतिशय शोभा और पुण्य का कार्य माना जाता था। इसलिए हम इस युग में वैश्यों के अतिरिक्त उच्च वर्ग के अन्य लोगों को भी कृषि कर्म में अधिकाधिक प्रवृत्त होते हुए पाते हैं। महाभारत में तुलाधार तथा विदुर के मुँह से कृषि की घोर निन्दा करायी गई है। परन्तु यहाँ, बैलों को अधिक कष्ट देने तथा वैश्यों के अतिरिक्त अन्य वर्ण के लोगों को कृषि करने के विरोध में ही महाभारत में ये उद्धरण दिये गये हैं।[26]

कालान्तर में बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रादुर्भाव के साथ अहिंसा की भावना अधिक बल पकड़ती गई और उसका क्षेत्र मानव जगत से ऊपर उठकर प्राणी जगत तक विस्तृत हो गया। प्रायः समस्त चराचर में जीव की कल्पना की जाने लगी और उसे किसी प्रकार का कष्ट देना हिंसा की कोटि में गिना जाने लगा। इन धर्म प्रवर्तकों ने कृषि को हेय तथा त्याज्य बतलाया। महात्मा बुद्ध ने कृषि को निन्दनीय तथा भिक्षुओं के लिए वर्जित कार्य बताया है।[27] जैनियों की दृष्टि में तो अहिंसा का क्षेत्र और भी व्यापक था। उन्होंने भी इसे वर्जित बताया।[28] परन्तु कृषि के प्रति बौद्धों एवं जैनियों का यह दृष्टिकोण सम्भवतः एक वर्ग विशेष के

२६- महाभारत, वन पर्व; २४१/३०;"यज्ञपाटस्य ते भूमिः कृष्यतांतेन भारत।"
२७- अश्वघोष, २६/३१;
"छेदनं भूमिजानां च कर्षणं खननं भुवः ।
विक्रयणं रसादीनां वृतिस्ते नोचिता भवेत् ।।"
२८- मेहता, मोहनलाल : जैन आचार, पृष्ठ ८६

लिए ही इस व्यवसाय को निषिद्ध ठहराना है, न कि पूरे कृषि उद्योग को ही अनृत अथवा निन्दनीय घोषित करना और वह भी केवल इसलिए कि इस वृत्ति के साधकों के आध्यात्मिक विकास में बाधा पड़ सकती है। आगे चलकर धार्मिक बंधनों के शिथिल होने पर बौद्ध एवं जैन संघों तथा समितियों द्वारा जंगलों एवं झाड़ियों को काटकर विस्तृत भूखण्डों में कृषि करने के भी प्रमाण मिलने लगते हैं।[29]

इस प्रकार पशुपालन उसके पश्चात् कृषि-कर्म और अन्त में उद्योग-धन्धों के माध्यम से आर्थिक विकास के क्रम की आधारशिला उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती गयी।

(३) सिंचाई तथा कृषिकर जैसे भाग, भोग, बलि तथा कर

सिंचाई-

कृषि प्राचीनकाल से हमारे समाज का महत्त्वपूर्ण आर्थिक आधार रहा है। आर्यों ने स्थायी निवास के बाद कृषि को सुव्यवस्थित ढंग से करने के लिए सिंचाई की व्यवस्था की। सर्वप्रथम लोग कृषि के लिए वर्षा पर निर्भर रहते थे।[30] वर्षा के अभाव में कृत्रिम सिंचाई की व्यवस्था की जाती थी। झील, कूप, तड़ाग, कुल्या आदि के उपयोग से खेत सींचने का कार्य किया जाता था।

२६- मैटी, एस०के० ; इकनामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया इन द गुप्ता पीरियड, पृष्ठ ६७-६८, द्वितीय संस्करण १६७० ।
३०- मेघदूत, १६/

ऋग्वेद में कुओं से खेतों की सिंचाई का उल्लेख प्राप्त होता है।[31] अथर्ववेद में हमें सिंचाई के लिए नहर खोदने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कौशिक सूत्र में उस धार्मिक क्रिया की जानकारी प्राप्त होती है जिसके बाद नहर से खेतों में पानी छोड़ागया था।[32]

स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से विदित होता है कि सुराष्ट्र के गिरनार नगर के निकट सुदर्शन झील भी, जिसके जल का सिंचाई में उपयोग किया जाता था। इस झील का मूलतः निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में सिंचाई के उद्‌देश्य से किया गया था, जो स्थानीय नदियों और वर्षा के जल को बांधकर बनायी गई थी। दूसरी सदी में रूद्रादामन के समय में इस झील का बांध टूट गया, जिसका जीर्णोद्धार उसने आपार धन ओर सैकड़ों लोगों को लगाकर करवाया था। पाँचवीं सदी में स्कन्दगुप्त के समय पुनः वर्षा के कारण जल समुद्र की तरह हो गया, गिरनार नगर की सुरक्षा का प्रश्न उठ खड़ा हुआ तो चक्रपालित नामक अधिकारी ने अनुपम साहस दिखाकर दो महीने तक सहस्रों लोगों को रात-दिन लगाकर तथा बहुत सारा धन व्यय करके पुनः झील के बांध का जीर्णोद्धार करवाया।[33]

गौतमबुद्ध के जीवन काल में लोगों ने सिंचाई के लिए खेतों के बीच नहरें और नालियाँ बनवायीं।

३१- ऋग्वेद ५/८५/१० ; १/११६/६ ; ४ /
३२- कौशिक सूत्र ४०, ३/६
३३- जूनागढ़ अभिलेख ।

इंजीनियरों ने पानी पहुँचाने के लिए नयी योजनायें बनायीं। जातकों से पता चलता है कि लोगों ने सहकारिता की भावना से नहर और तालाब बनाये।[34]

रामायण और महाभारत काल में राज्य की ओर से सिंचाई के लिए तालाब और नहरों का निर्माण किया जाता था।[35] अर्थशास्त्र में भी अच्छा प्रशासन उसे कहा है, जिसमें किसान खेती ने लिए केवल वर्षा के पानी पर ही निर्भर न रहे।[36] कौटिल्य के सिंचाई के लिए अनेक साधन एकत्र करने का भी उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि किसानों को सिंचाई के साधनों का प्रयोग करने में पूरी सावधानी बरतना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति तालाब को तोड़ दे तो, उसे उसी तालाब में डुबो दिया जाय।[37]

मैगस्थनीज के अनुसार सरकारी अधिकारी सिंचाई की नालियों का निरीक्षण करते थे, जिससे की प्रत्येक किसान को खेती के लिए पानी प्राप्त हो सके। इसी प्रकार का विधान मनु ने भी किया है।[38]

अनेक अभिलेखों से जानकारी प्राप्त होती है कि अनेक व्यक्ति कुआँ और तालाब का निर्माण करवाते थे। उत्तर-भारत में नदियों से अधिकतर सिंचाई होती थी; परन्तु

३४- जातक, १,६६ ; ३३६ ; २, ४१२ ।
३५- रामायण, २/१००/४५
३६- कौटिल्य, ६/१
३७- कौटिल्य, ४/११/
३८- मनुस्मृति ६/२७६/

मध्य भारत और पश्चिमी भारत में नदियों से सिंचाई संभव न थी। अतः सरकार ने और जनता ने तालाब कुआं और नहरों से सिंचाई की व्यवस्था अपनायी।

नारद ने भी सिंचाई के लिए पानी लाने वाली नालियों (खेम) और पानी को रोकने वाले बांधों (बन्ध्य) का उल्लेख किया है। नारद के अनुसार जो नाली टूट गई है उसका कोई भी व्यक्ति उस नाली के स्वामी से अनुमति लेकर मरम्मत करा सकता है। यदि उसका स्वामी मर गया हो तो वह राजा की आज्ञा से मरम्मत करा सकता है।[39] अमरकोश से पता चलता है कि गुप्तकाल में नदियों से नहरों का निर्माण कराया गया था, तथा तालाब भी बनाया गया था। बाढ़ से हानि को रोकने के लिए नालियों का भी निर्माण कराया गया था।[40] कामन्दक ने लिखा है कि जिस देश में अच्छी फसलें होती हैं, जिसमें पर्याप्त खानें हैं और वर्षा के पानी पर सिंचाईनिर्भर नहीं है उसमें जनता सुख और समृद्धि से जीवन बिताती है।[41] इस कथन से स्पष्ट है कि कृषि काल में कृषि के लिए सिंचाई का कितना महत्व था।

पूर्व मध्य युग तक कृषि सुव्यवस्थित हो चुकी थी। अनेक प्रकार के चावल शालि, कोदो, सरसों, प्रियंगु, जर्तिल,निवार आदि की खेती होती थी। मसूर, कलाप,

---

३९- नारद, ११/१८/२०/२१
४०- अमरकोश, ६/७/ पृ० ६२
४१- कामन्दक नीति सार, ४/६१; ५/६६/

सुव्यवस्था में राजा का पर्याप्त धन व्यय होता था जिसकी पूर्ति के लिए प्रजा पर विभिन्न प्रकार के कर लगाये जाते थे। कृषकों से राजा भूमि कर लेता था, जिसके लिए 'ग्राम भोजक' नामक अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। उपज का एक भाग राज-भाग होता था, जो समयानुसार परिवर्तित होता रहता था। गौतम ने उपज का १/१०, १/८ या १/६ हिस्सा राजा के हिस्से रूप में वर्णित किया है। वैदिक युग में यही राज-भाग 'बलि' कहा जाता था। जो बौद्ध युग में भी प्रचलित था।[44] नारद और विष्णु के अनुसार भी राजा उपज का छठा भाग प्राप्त करने का अधिकारी था।[45] बौधायन और वसिष्ठ के अनुसार भी राजा उपज का छठा भाग 'कर' के रूप में प्राप्त कर सकता था। मनु के अनुसार राजा उपज का छठा, आठवां या बारहवां भाग प्राप्त कर सकता था।[46]

मौर्य युग में कृषि एक सुव्यवस्थित उद्योग का दर्जा प्राप्त कर चुकी थी। यह अधिकाधिक लोगों को आजीविका थी तथा राज्य को भूमि कर के रूप में अधिक आय प्राप्त होती थी। कौटिल्य ने उल्लेख किया है कि राष्ट्र के अन्तर्गत 'समाहर्त्ता' नामक अधिकारी विभिन्न प्रकार के कर वसूल करता था। कौटिल्य ने तेरह प्रकार के राज करों का उल्लेख किया है। जिनमें 'भाग' नामक कर अन्न के

४४- जातक, १/३५४; 'राजबलिम् अभित्वा' ।
४५- नारद १८/४८; विष्णु ३/२२
४६-मनुस्मृति, ७/१३०/ "धान्यानामष्टमो भाग पष्ठो द्वादश एव वा।।"

उत्पादन पर लियाजाने वाला कर था।[47] अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि उपज अच्छी होने पर या आपत्तिकाल (राज्य की) में राजा उपज का तीसरा या चौथा भाग कर के रूप में लेता था। 'बलि' नामक कर का उल्लेख उसने उपहार अथवा मांगने पर प्राप्त होने वाले धन के रूप में किया है। मनु ने भी इसका समर्थन किया है।[48] यह कर राजा कृषि को सुरक्षा एवं प्रश्रय देने के बदले लेता था। भूमिकर, विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा भिन्न-भिन्न बताये गये हैं। स्मृतियों में कर की कोई एक निश्चित दर नहीं मिलती है। प्रायः आठ प्रतिशत से तैंतीस प्रतिशत तक कर लेने का निर्देश दिया गया है।[49] यह विभिन्नता भूमि की उर्बरता तथा सिंचाई के साधनों के कारण थी। मनु ने भूमि कर आठ, बारह तथा सोलह प्रतिशत तक लेने का उल्लेख किया है। गुप्त काल में भी भूमि कर षष्ठांश ही लिया जाता था। जैसा कि कालिदास[50] और नारद[51] के उल्लेखों से ज्ञात होता है। यह स्पष्ट ज्ञात नहीं हो पाता है कि भूमि पर सम्पूर्ण उपज का षष्ठांश था या खर्च काटने के बाद बची हुई उपज का। शुक्रनीति में उल्लेख है कि भूमि कर तैंतीस प्रतिशत लेना चाहिए, परन्तु कृषक के पास कृषि एवं भूमि कर में जितना खर्च लगा है

४७- अर्थशास्त्र, २/६/३
४८- मनुस्मृति, ७/१३० ; "धान्यानामष्टमो भागं षष्ठो द्वादश एव वा।।"
४६- अर्थशास्त्र, ५/२/२; मनु, ८/१३०; गौतम १०/२४-२७
५०- रघुवंश, ५/२१
५१- नारद, १८/४८

उसका दुगुना उसके पास बचना चाहिए।[52] श्रम करने वाले श्रमिक को उपज का चौथाई या पाँचवा भाग ही प्राप्त होता था। राज्य की भूमि का समुचित प्रयोग न करने पर भी कृषक को राज-भाग प्रदान करना पड़ता था। भूमि कर के साथ-साथ कृषक को जल कर भी राजा को प्रदान करना पड़ता था, जिसे 'उदक-भाग' कहा जाता था। अपने परिश्रम के द्वारा खोदे गये कुआं अथवा तालाब से घड़े द्वारा जल खींचकर लाने वाले किसान को फसल का पांचवा भाग जल कर के रूप में प्रदान करना पड़ता था। अपने कन्धे पर जल लाकर खेती करने वाले किसान फसल का चतुर्थांश भाग जल कर के रूप में प्रदान करते थे, और राजकीय नहर से सिंचाई करने वाले फसल का तृतीयांश राजा को जल कर के रूप में प्रदान करते थे।

महाकाव्यों में भी उपज के भाग को राज कर के रूप में स्वीकार किया गया है। समस्त राष्ट्र का स्वामी होने के नाते राजा अनेक प्रकार के करों का स्वामी था। कृषि कर के रूप में १/१० भाग से लेकर १/६ भाग तक प्राप्त करता था। महाभारत में भी इतना ही भाग कर के रूप में लिया जाता था। अशोक के रुम्मनदेई स्तम्भलेख से विदित होता है कि उसने बुद्ध के जन्म स्थान से प्राप्त होने वाले राज भाग को कम करके १/८ भाग वसूल करने के लिए अपने अधिकारियों को निर्देश

५२- शुक्रनीति, ४/२/११५/

दिया था, जो साधारणतः प्राप्त होने वाले राज-भाग का आधा भाग था। वैसे, राज-भाग १/४ ही लिया जाता था। लावारिस धन में से राजा को 'भाग' मिलता था, जिसे राजा को प्राप्त करना उसका धर्म माना जाता था।[53] भूमिकर प्रायः देश और काल के अनुसार उपज को ध्यान में रखकर निश्चित किया जाता था। अल्टेकर ने उल्लेख किया है कि भूमि कर सम्पूर्ण उत्पादन का सोलह प्रतिशत तथा आय कर का पच्चीस प्रतिशत होता था।[54] अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि फसलों को काटते समय सरकारी कर्मचारी उपस्थित रहते थे या किसानों को अपना फसल दिखाना आवश्यक होता था। इस नियम का पालन न करने पर किसानों पर कर का आठ गुना दण्ड लगाया जाता था।[55] अल्टेकर, ने अर्थशास्त्र और शुक्रनीति के उल्लेखें के आधार पर भूमिकर को अनाज के रूप में लेने का उल्लेख किया है।[56]

गुप्तकाल में भी भूमि कर को अनाज के रूप में लेने का उल्लेख प्राप्त होता है।[57] उपर्युक्त विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि अधीतव्य काल में भूमिकर प्रायः अनाज के रूप में ही लिया जाता था।

५३- मनुस्मृति, ८/३१-३३
५४- अल्तेकर, ए०एस०, पृष्ठ १६६
५५- अर्थशास्त्र, ५/२/१३
५६- अल्तेकर, ए०एस० : १६७
५७- मैटी, एस०के०: इकनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इंडिया, पृ० ५८

मौर्योत्तर काल में भी ये कर वसूल किये जाते थे। कालिदस ने उल्लेख किया है कि गुप्त राजाओं का कोष भरा रहता था। राज्य में कर संग्रह का एक अलग विभाग था।[58] रघुवंश से पता चलता है कि सैकड़ों घोड़े, ऊँटों, बैलों आदि पर लादकर संगृहित करके करोड़ों सिक्के (धन) कोष में लाये जाते थे।[59] डा० मैटी ने गुप्तकाल में उर्दरा, उपरिकर, रिलिप्ता, उपरिप्ता, हरिण्य, वली, विष्टि आदि करों के लिये जाने का उल्लेख किया है। इस युग में भाग, भोग प्रचलित कर थे।

डी०सी० सरकार ने भाग कर को उत्पादन कर तथा भोग कर को फल-फूल, जंगली लकड़ी कर बताया है।[60]

राजाओं द्वारा मौर्य युग से गुप्त युग तक प्रजा से विभिन्न प्रकार के कर प्रायः अनाज तथा चुंगी आदि सिक्के के रूप में लिए जाते थे, परन्तु कर लगाते समय प्रजा की स्थिति तथा उसके व्यवसाय की वस्तु के उत्पादन तथा क्रय-विक्रय में लगी लागत पर सम्यक दृष्टि से विचार किया जाता था।

५८- रघुवंश, ५/२६
५६- रघुवंश, ५/२१
६०- सरकार, डी०सी० ; सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० ७२, एल०एन० ७

बोस ने 'भाग' कर की नियमित कर तथा 'बलि' कर को अनियमित कर के रूप में प्रचलित बताया है।[61]

पूर्वमध्य युग तक आकर समाज में कृषकों से अनेक प्रकार के कर लिये जाने लगे जैसे- भाग, भोग, बलि, कर, धान्य, हरिण्य, उद्रंग, उपरिकर, उदक-भाग, प्रतिभाग आदि इन सब के सम्बन्ध में अनेक पुरातात्विक साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं-

भाग- भाग कर राजा को गांवों से भूमि की उपज का छठां अंश आय के रूप में प्राप्त होता था।[62] राजा को 'भाग' कर भूमि की सुरक्षा प्रदान करने के उपलक्ष्य में दिया जाता था। शहड़वाल दानपत्रों में भाग, भोग, कर हरिण्य आदि करों का उल्लेख मिलता है।

भोग- समय-समय पर पुण्य द्वारा राजा को उपभोग के लिए फल- फूल, लकड़ी आदि वस्तुएँ प्रदान की जाती थीं, वह कर 'भोग' के अन्तर्गत आता था। प्रजा जिन वस्तुओं का उपभोग करती थी, उनमें निधि, निक्षेप (भूमि के भीतर की वस्तुएँ), अक्षिणी (अद्यतन लाभ का वास्तविक अधिकार), जल, पाषाण, आगामी (भविष्य के लाभ), सिद्ध या सिद्धग्य (कृषि-कार्य के निमित्त पहले से गृहीत की गई भूमि) तथा

६१- बोस, ए०एन० : सोशल एण्ड सरल इकनामी ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ.१२६

६२- मनुस्मृति, ७/१३०, शब्दानुशासन, ''ग्रामाहिणु स्वामिग्रह्यों भागः आयः।

साध्व (निरर्थक पड़ी हुई जमीन जो कृषि के निमित्त कार्य में लायी जा सकती थी) भूमि थी।

बलि– ऋग्वेद के काल में राजाओं को जो उपहार मिलता था, वह 'बलि' के अन्तर्गत आता था। कालान्तर में आकर यह कर प्रजा द्वारा उत्पादित अन्न से अतिरिक्त राज-भाग के रूप में लिया जाने लगा। मनु के अनुसार प्रजा की रक्षा न करने वाला जो राजा 'बलि' आदि कर वसूल करता था, वह नरकगामी था।[63]

कर– राजा को ग्रामवासियों से अन्न से सम्बन्धित भाग के ऊपर जो विशेष प्रकार का कर के रूप में कभी-कभी आय प्राप्त होती थी, वही 'कर' के अन्तर्गत आती थी। 'कल्पसूत्र' पर भाष्य लिखते हुए हरिभद्रसूरि का कथन है कि प्रत्येक गौ जैसे पशु पर प्रतिवर्ष निश्चित किया गया जो कर दिया जाता था, वह इसमें गृहीत किया जाता था।[64] पूर्व मध्ययुगीन राजपूत अभिलेखों में ऐसे कर का उल्लेख किया गया है।

'धान्य' कर कुछ विशेष प्रकार के अन्नों पर लगाया जाता था। 'हिरण्य' नामक कर खनिज पदार्थों अथवा सम्पत्ति पर लगाया जाता था। गौतम, विष्णु, मनु आदि अर्थशास्त्रकारों के अनुसार, राजा द्वारा 'हरिण्य' तथा अन्य वस्तुओं का निश्चित 'भाग' कर के रूप में प्राप्त

६३– मनुस्मृति, ८/३०७
''योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ।।
६४– हरिभद्रसूरि का 'कल्पसूत्र' पर भाष्य, ''करो गवादीनि प्रति प्रतिवर्षम् राजग्राह्यम् द्रव्यम् ।''

किया जाना ही 'हिरण्य' कर था, जो वस्तु का पचासवाँ भाग होता था।[65] पूर्वमध्ययुगीन अनेक अभिलेखों मे 'हिरण्य' नामक कर की जानकारी प्राप्त होती है।

उद्रंग और उपरि कर - भूमि पर स्थायी रूप से रहने वाले किसानों से लिया जाने वाला कर उद्रंग कहा जाता था। उद्रंग और उपरिकर को गोपाल ने अर्थशास्त्र में वर्णित 'क्लिप्त' और उपक्लिप्त' माना है। जिसका क्रमशः अर्थ है, कृषकों पर लगाया जाने वाला निश्चित कर और अतिरिक्त (अनिश्चित) कर।[66] लल्लन जी गोपाल ने सिंचाई कर का विशद विश्लेषण किया है तथा नवीन तथ्यों के आधार पर सिंचाई कर की वास्तविक स्थिति प्रतिपादित की है। भूमि पर राज्य के स्वामित्व और सिंचाई के साधनों का कृषकों द्वारा उपयोग आदि पर लल्लन जी गोपाल का यह अभिमत है कि 'उदक भाग' का अर्थ भूमि को सिंचित करने के लिए जल के हिस्से के रूप में था। उनका यह विचार है कि 'उदक भाग' व्यक्तिगत कार्यों के लिए जल का वह हिस्सा था जो राज्य की भूमि को प्रदान किया जाता था।

'प्रतिभाग' राजा द्वारा प्रजा से जब फल, फूल शाक आदि कर के रूप में प्राप्त किया जाता था तो वह 'प्रतिभाग' कहा जाता था।

६५- गौतम, १०/२५; विष्णु, ३/२५; मनुस्मृति, ७/१३०
''पञ्चाशद्भाग आदेयो राजा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ।।''
६६- गोपाल, दि इकनामिक लाइफ ऑफ द नार्दन इण्डिया, पृ० ४१

कूटक का अर्थ है, 'कूट' क (गृह) पर लिया जाने वाला कर। किन्तु यह हल पर लगने वाला कर था क्योंकि 'कूट' का अर्थ खेत जोतना और 'कूटक' का अर्थ खेत जोतने का हल होता है।

इस प्रकार ये सभी कर प्रजा द्वारा लिये जाते थे जिनका उल्लेख अनेक अभिलेखों द्वारा प्राप्त होता है।

भूमि स्वामित्त्व का विश्लेषण

कृषि योग्य भूमि के स्वामित्त्व के विषय में प्राचीन शास्त्रकारों के मत को लेकर आधुनिक विचारकों में मतभेद है। कृषि कर्म का ज्ञान आर्यों को हिन्द-ईरानी युग से ही था। चूँकि भारत में आर्य एक दूसरी सभ्यता को विस्थापित कर अपने को स्थापित कर रहे थे इसलिए यायावरी जीवन में तो भू-स्वामित्त्व विकसित नहीं ही हुआ होगा। डॉ० रामनरेश त्रिपाठी ने जनसंख्या एवं विस्तृत भू-क्षेत्र के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि वैदिक काल में भू-स्वामित्त्व का प्रश्न ही नहीं उठा था।[67] परन्तु यह कथन सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय पर दृष्टिपात करने से सही प्रतीत नहीं होता । ऋग्वेद के एक मंत्र से पता चलता है कि भू-स्वामित्त्व पूरे समाज के हाथ में था।[68] इस

६७- त्रिपाठी, रामनरेश ; प्राचीन भारत में आर्थिक विचार, पृ० ७
६८- ऋग्वेद, ८/९९/५; 'इमानि त्रीणि विष्टया तानीन्द्र विरोहय । शिरस्ततस्योवेरामादिर्य न उपोदरे ।।"

मंत्र में अपाला ने भूमि की समानता अपने पिता के गंजे सिर से की है। परन्तु इस व्यक्तिगत स्वामित्त्व का अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि प्रत्येक परिवार के पास खेती के लिए अलग जमीन होती थी। वैदिक काल में[69] व्यक्तिगत और सामूहिक भूमि-स्वामित्त्व का विकास हुआ। किन्तु समग्र रूप से साम्राज्य की सभी वस्तुएं राजा के अधीन रहती थीं। इस प्रकार भूमि भी उसके नियंत्रण में रहती थी और कृषक व्यक्तिगत रूप से उसका उपयोग करता था।

बी०एस० स्मिथ[70] जे०एन० समद्दर,[71] बी० प्रेलोर, शाम शास्त्री, हापकिन्स, व्यूलर[72] आदि विद्वान भूमि पर राजा के स्वामित्त्व को स्वीकार करते हैं। मेन[73] जैसे विद्वान भूमि पर सामुदायिक स्वामित्त्व बताते हैं। वाडेन-पावेल के०जी० जयसवाल और पी०एल० बनर्जी भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्त्व को मानते हैं। लल्लन जी गोपाल[74] वेदों में वर्णित रिवल्प, उर्बरता, उर्वरापति, उर्वराजित, क्षेत्रसा क्षेत्रपति आदि शब्दों के आधार पर वैदिक काल में भी (व्यक्तिगत) भू-स्वामित्त्व होने का उल्लेख किये हैं।

६६- मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० ५६७ ।

७०- स्मिथ, वी०ए० यर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० १३७ एफएफ, आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ६०.

७१- समद्दर जे०एन०: इकनामिक कन्डीशन इन ऐंशियेंट इंडिया, पृ० १६८

७२- व्यूलर : एस०बी०ई० २४, पृ. २५६, नोट आन मनु० ८-३६

७३- विलेज कम्यूनिटिज ऑफ द इस्ट एण्ड पेस्ट, पृ० ७६एफ, १०३

७४- गोपाल लल्लन जी : आस्पेक्ट्स ऑफ हिस्ट्री एग्रीकल्चर इन एंशियंट इण्डिया, पृ० ४३-४४.

इसके पक्ष में वे अपाला द्वारा इन्द्र से की गई प्रार्थना पर विवाद दिखाई पड़ता है तथा मुख्यतः तीन भागों में सामूहिक, राजकीय, और व्यक्तिगत स्वामित्त्व में बँटा हुआ दिखाई पड़ता है।

शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि भूमि पर सभी लोगों का अधिकार होता था।[75] शबर स्वामी ने उल्लेख किया है कि भूमि को सुरक्षा प्रदान करने के कारण राजा उपज से केवल 'भाग' लेने का अधिकारी का भूमि पर उसका कोई अधिकार नहीं था।[76] हालांकि स्वामित्त्व के विषय पर काफी विवाद होता रहा है। लक्ष्मीधर ने भूमि पर सभी कार्य करने, दान देने तथा हस्तक्षेप करने वाले के विरुद्ध वैधानिक कार्य करने के आधार पर कृषकों के व्यक्तिगत स्वामित्त्व को स्वीकार किया है।[77] अग्नि पुराण में भी व्यक्तिगत भू-स्वामित्त्व का उल्लेख मिलता है।[78] प्रो० लल्लन जी गोपाल ने प्राचीन साक्ष्यों के आधार पर भूमि पर राज्य और कृषक दोनों के स्वामित्व का उल्लेख किया है। भूमि से निकली हुई वस्तु पर आपस्तम्ब ने राजा का अधिकार स्वीकार किया है, न कि खोदने वाले का।[79] कौटिल्य का भी विचार राजा के भूमि-स्वामित्व के पक्ष में

७५- शतपथ ब्राह्मण, १३/७/७/१५
७६- मीमांसा सूत्र, ६/७/३
७७- कृत्यकल्पतरू, व्यवहारकांड, पृ० १५३; गार्हस्थ्यकांड, पृ० १८२
७८- अग्निपुराण, ७०/६/ आदि ।
७९- आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २/११/२८ ; १/६१८

है।[80] मनु ने यह प्रतिपादित किया है कि "पृथ्वी में गड़े धन (विभिन्न धातुएँ) का आधा भाग राजा प्राप्त करे, क्योंकि वह पृथ्वी का स्वामी है। इस कथन से भूमि पर राजा के स्वामित्व की पुष्टि होती है।[81] अर्थशास्त्र में राजकीय और मालगुजारी (भाग) प्रदान करने वाली भूमि का भी उल्लेख मिलता है। मनु के कथन का समर्थन मेधातिथि ने भी किया है।[82] राजाओं द्वारा ब्राह्मणों और शैक्षणिक संस्थाओं को दानस्वरूप भूमिखण्ड प्रदान करना उनके भूमि स्वामित्व की पुष्टि करता है।[83] लक्ष्मीधर ने अपने महाग्रन्थ 'कृत्यकल्पतरु' में राजा के स्वामित्व को स्वीकार किया है।[84] अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस युग में दो प्रकार की भूमि थी- एक राजकीय और दूसरी मालगुजारी (भूमिकर) प्रदान करने वाली भूमि। इन दोनों प्रकार से प्राप्त होने वाली आय के लिए अलग-अलग अर्थबोधक शब्द अर्थशास्त्र में उल्लिखित हैं। 'सीता' शब्द प्रथम प्रकार से सम्बन्धित विभिन्न आय को व्यक्त करता है, तथा 'भाग' दूसरे प्रकार से सम्बन्धित राजकीय भूमि को छोड़कर अन्य भूमि कर का बोधक है। सीताध्यक्ष राजकीय

८०--अर्थशास्त्र, २/१/१२-१४.
८१- मनु० ८/३६;"निधीनां तु पुराणानां धातुनामेव च क्षितौ।
अर्थमाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हितः ।।"
८२- मेधातिथि, मनु० ८/३६
८३- मैटी, एसके०: इमनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया इन द गुप्ता पीरियड, पृ० २२-३०; गोपाल लल्लन जी; दि इकनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इंडिया, पृ० ६-१२; नियोगी : दि इकनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इंडिया, पृ० ५०-६०.
८४- कृत्यकल्पतरू, राजधर्मकाण्ड, पृ० ६०

भूमि पर कृषि कार्य की देख-रेख करता था। कौटिल्य की तरह मनु ने भी राजतन्त्र और साम्राज्यवादी सिद्धान्त का अनुमोदन किया है। महाभारत में भी सभी सम्पत्ति का स्वामी बताया गया है। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने भी राजा के भू-स्वामित्व को स्वीकार किया है।[85] समय-समय पर राजा द्वारा भूमि पर कर लगाया जाता था। भूमि की उपज का षष्ठांश उसे निरन्तर मिलता रहता था। समस्त देश का स्वामी होने के कारण वह अन्न, फल, फूल, वृक्ष, जल, निधि आदि सभी का स्वामी था। तथा उपर्युक्त वस्तुओं का उपयोग करने वालों से अपना भाग वसूल करता था। प्राचीन काल में मात्स्यन्याय की स्थिति से बचने के लिए ही राजपद का सृजन किया गया तथा सम्यक् दृष्टि से प्रजारंजन करना राजा से अपेक्षित किया गया। बृहस्पति ने कुछ भागों में सामुदायिक खेती होने का उल्लेख किया।[86] ग्वालियर अभिलेख[87] से विदित होता है कि सम्पूर्ण ग्वालियर के समस्त लोगों ने मिलकर एक ग्राम में पड़ा हुआ भूमि खण्ड और दो भू-क्षेत्र मंदिर को दान में दिये थे। विवेच्य काल में भू-स्वामित्व का प्रश्न बड़ा ही जटिल रहा है। विद्वानों ने इस काल में प्रचलित राजकीय स्वामित्व, वैयक्तिक स्वामित्व तथा सामुदायिक स्वामित्व के विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं।

८५- मेधातिथि, मनु० ८/३६
८६- बृहस्पति, ४३-२७
८७- इपिग्राफिका इंडिका, १, पृ० १५४

व्यक्तिगत एवं सामूहिक भू-स्वामित्व

भूमि पर व्यक्ति का अधिकार वैदिक युग से स्वीकार किया गया है। उस युग में कृषि योग्य भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के सन्दर्भ मिलते हैं। 'उर्वरासा', 'उर्वरापति', 'उर्वराजित', 'क्षेत्रसा', 'क्षेत्रपति' जैसे शब्द भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का परिचय देते हैं। उत्तरवैदिक युग के वेद, संहिता और उपनिषद् ग्रन्थों में व्यक्तिगत भूमि के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।[88] जैमिनी ने मीमांसा के आधार पर मत व्यक्त किया है कि ''यह सही है कि भूमि खण्ड दान करके किसी व्यक्ति को दिया जा सकता है, किन्तु सम्पूर्ण भूमि राजा द्वारा दान नहीं दिया जा सकता है। इसी प्रकार अधीनस्थ राजकुमार द्वारा कोई प्रदेश किसी को नहीं दिया जा सकता, केवल उस स्थिति को छोड़कर जब भूमि अथवा गृह उसके द्वारा क्रय किया गया अथवा प्राप्त किया गया हो।[89] बौद्ध युग में भी व्यक्तिगत भू-स्वामित्व था। भूमि की माप उस समय की जाती थी, जिन्हें 'खिल्य' के माध्यम से अलग किया जाता था। भूमि के अधिकारी को 'खेतपति', 'खेतसाभिक' या 'वत्थुपति' कहा जाता था। भूमिखण्ड अनेक व्यक्तियों के होते थे। अनाथपिंडक, अम्बपालि तथा जीवन द्वारा भूमिखण्ड और उद्यान दान में प्रदान किये गये। श्रावस्ती के श्रेष्ठि सुदत्त (अनाथपिंडक) ने राजकुमार जेत का उद्यान १८ कोटि स्वर्ण

८८- ऋग्वेद, १/११०/५, ८/६१/५; गोपाल लल्लन जी, दि इकनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ० ४३-४४.
८९- मीमांसा दर्शन ६/७/३ ।

मुद्राओं से खरीद कर बुद्ध के निवास के लिए अर्पित किया था। ये स्वर्णमुद्रायें राजकुमार जेत की मांग के अनुसार उद्यान में बिछा दी गई थीं, जो गाड़ियों पर लाद कर वहाँ लायी गयी थीं।[90] व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व के ऐसे अनेक दृष्टांत जातक, महावग्ग, दीघनिकाय, सुत्तनिपात, उत्तराध्ययन सूत्र जैसे बौद्ध ग्रन्थों से मिलते हैं। क्रय-विक्रय और भूमि की सीमा निश्चित करने सम्बन्धी अनेक प्रमाण भी उस काल के प्राप्त होते हैं। कभी-कभी स्त्रियाँ भी भूमिखण्ड भिक्षुओं को दान में दिया करती थीं।[91] कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत भूक्षेत्र के पारस्परिक मतभेद का वर्णन किया है, तथा व्यक्तिगत भू-स्वामित्व का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है कि भूमि पर व्यक्ति का अधिकार था। एक स्थल पर मनु द्वारा व्यक्त किये गये विचार से प्रतीत होता है कि वह भी कुछ अंशों में व्यक्तिगत स्वामित्व का अनुमोदक था। वह लिखता है, 'पुराविद लोग इस पृथ्वी को मृत्यु की भार्या मानते हैं। खुत्थ (ठूठ पेड़) काटकर (भूमि को समतल करके) खेत बनाने वाले का खेत मानते हैं, और पहले बाण मारने वाले का मृग।[92] यही नहीं, बृहस्पति, याज्ञवल्क्य आदि अन्य स्मृतिकारों ने व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व की चर्चा की है। स्पष्ट है कि भूमि पर व्यक्ति का स्वामित्व था। भूमि आदि की

६०- जातक, १/६२-६३
६१- जातक, २/६६
६२- मनु०, ६/४४, "पृथोरमीमां पृथिवी भार्यापूर्वविदो विदुः । स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ।।'८

सुरक्षा के लिए राजा को उसका भाग प्राप्त होता था। गौतम के अनुसार कोई व्यक्ति किसी वस्तु का स्वामी क्रय करने, दान में प्राप्त करने, बँटवारा करने अधिग्रहण करने अथवा प्राप्त करने से होता है।[93] मनु ने वित्तागम के सात प्रकार बताये हैं। उसके अनुसार दान में प्राप्त, लाभ में प्राप्त तथा सत्प्रतिग्रह (शास्त्रोक्त दान) से प्राप्त सात प्रकार की सम्पत्ति धर्मयुक्त मानी जाती थी।[94] अतः भूमि पर व्यक्ति का स्वामित्त्व होना स्वाभाविक था। ऐसा प्रतीत होता है कि मनु ने राजा के भूमि स्वामित्व का अपना पहले वाला विचार परिवर्तित करके उसे व्यक्ति के हित में किया। नारद कात्यायन, गौतम और मनु जेसे शास्त्रकारों ने भूमि स्वामित्व पर विस्तार से विचार किया है तथा व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व का प्रतिपादन किया। मेधातिथि ने भी व्यक्तिगत भू स्वामित्त्व सम्बन्धी विचारका विकास किया है। देशोपदेश में उल्लिखित है कि एक कृषक के पास पत्नी, द्रव्य, गृह और भूमि सम्पत्ति के रूप में थी, जिसे दूसरे उपयोग करते थे।[95]

वंशानुगत भूमि सम्पत्ति का उल्लेख 'सुभाषितरत्नकोश' में भी है।[96] इन साहित्यिक उल्लेखों के अतिरिक्त प्राचीन काल में व्यक्तिगत रूप से अनेक भूमि खण्ड दान में दिये गये थे। जिनके अभिलेखीय प्रमाण मिलते

९३- गौतम, १०/३६/४१
९४- मनुस्मृति, १०/११५
९५- देशोपदेश, २/६
९६- सुभाषित रत्नकोश, ५/११७५

हैं। गुप्तकालीन अभिलेख से विदित होता है कि कुमार गुप्त के एक राजकीय कर्मचारी ने एक सामवेदी ब्राह्मण को भूमि दान में दी थी। भुवनेश्वर अभिलेख में विवृत है कि मडमदेवी ने एक वणिक् (साधु प्रधान) से देवधर ग्राम में एक भूमि-खण्ड क्रय किया था और उसे अपने लिंगिराज मंदिर में शिव के पूजन के निमित्त दान कर दिया था। ऐसे अनेक उदाहरण व्यक्तिगत भूमि के स्वामित्व का समर्थन करते हैं। व्यवहारतः समाज में भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में भी थी। भूमि के व्यक्तिगत स्वामी को 'सत्क' कहा जाता था।

भूमि पर सामूहिक स्वामित्व -

आर्य जब भारत में आये तब भूमि पर स्वामित्व सामूहिक रूप से स्थापित हुआ था। धीरे-धीरे उनके विस्तार और फैलाब से राज्य का निर्माण हुआ तथा लोग छोटे-छोटे परिवारों में बंटने लग गये। परिवार का स्वरूप विकसित होने पर भूमि-स्वामित्व भी संकुचित हुआ। उत्तर वैदिक काल तक आकर व्यक्तिगत सम्पत्ति सिद्धान्त विकसित हुआ; जो कालान्तर में चलकर और दृढ़ हो गया। फलस्वरूप सम्मिलित अथवा सामूहिक भूमि-स्वामित्व व्यक्तिगत भूमि-स्वामित्व के रूप में स्थिर होने लगा। परवर्ती काल में हमें कतिपय ऐसे अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं, जिनसे सामूहिक दान के साथ-साथ स्वामित्व पर भी प्रकाश पड़ता है। ग्वालियर अभिलेख से विदित हाता है कि सम्पूर्ण ग्वालियर के समस्त लोगों (समस्त स्थान) ने मिलकर एक ग्राम में पड़ा हुआ भूमि खण्ड और दो भू-क्षेत्र मंदिर को

दान में दिये थे। इसी प्रकार का विवरण सिमदोनि अभिलेख में भी उल्लिखित है। उसके अनुसार नगर (सकल स्थान) के सभी लोगों ने मिलकर भूमिदान दी। अतः ये उल्लेख इस बात के प्रमाण हैं कि भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का, जो सिद्धान्त और 'व्यवहार' दोनों में स्वीकृत था तथा कभी-कभी एक से अधिक लोग मिलकर दान भी प्रदान करते थे।

उद्योग एवं व्यवसाय

वैदिक कालीन लोग जब नगरों में स्थायी रूप से निवास करने लगे, कृषि और पशुपालन उद्योग को सुव्यवस्थित ढंग से करने के पश्चात उनका रूझान उद्योग-धन्धों की ओर बढ़ा। वैदिक कालीन समाज में अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे प्रचलित थे। गांवों और नगरों में अनेक धन्धों को करने वाले लोग निवास करते थे। पूर्व वैदिक युग में आर्यों ने अपनी रुचि के अनुसार उद्योगों को अपनाया तथा भिन्न-भिन्न नामकरण किये, जो उत्तरवैदिक काल में आकर अलग- अलग रूप में विकसित हो गये। जैसे तक्षा, कर्मार, रथकार, हिरण्यकार, चर्मकार। ऐसे ही औद्योगिक वर्ग थे।[97] 'तक्षा' (बढ़ई) खेत जोतने के लिए हल तथा घर के लिए लकड़ी की विभिन्न वस्तुएँ बनाता था। उस युग में नाव और पोत भी बनाये जाते थे। ऋग्वैदिक समाज में 'वसोवाय' वस्त्र बुनने वाला होता था । वह करघे (वेय) पर वस्त्र बुनता था। बुनने वाली करघी को 'तसर' कहते थे। बुनकर को वम

९७- तैत्तिरीय संहिता, ४/५/४१२

कहा जाता था। 'कमरि' उस समय धातु का कार्य किया करता था। कार्षाणायान (लोहा या तांबा), हिरण्य (हरित, सुवर्ण, जातरूप), रजत (चाँदी) त्रपु (टिन) आदि धातुएँ उस समय के लोगों को ज्ञात थीं और वे धातुओं की अनेक वस्तुएँ बनाते थे। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि असुर आयोजालाह (लोहा) के विभिन्न कार्यों में दक्ष थे।[98] कर्मार कृषि के निमित्त 'अभृ', 'दात्र' या सृण्य 'फाल' (हल) आदि निर्मित करता था। हिरण्यकार सोने के आभूषण निर्मित करता था।[99] 'कुलाल' मिट्टी के विभिन्न प्रकार के बर्तन बनाते थे, जिन्हें आज कुम्हार कहा जाता है। 'चर्मकार' चमड़े की वस्तुएँ बनाया करता था। उत्तरवैदिक ग्रन्थों और सूत्र साहित्य तथा अन्य उत्तरवर्ती साहित्य में इन सभी व्यावसायिक वर्गों का उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद के अतिरिक्त वाजसनेयी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, पंचविश ब्राह्मण, अथर्ववेद आदि में अनेक शिल्पकारों का वर्णन किया गया है। यजुर्वेद में हिरण्य, अयस, श्याम, सीसा और त्रपु जैसी अनेक धातुओं का उल्लेख है, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि उस युग में अनेक शिल्पकार थे। अथर्ववेद में तांबे के लिए 'लोहित अयस' और लोहे के लिए 'श्याम अयस' का प्रयोग हुआ है ।[100] पारस्कर

९८- अथर्ववेद, १६/७/६६/१, अयोजाला असुरा मामिनोऽस्मयै पाशैरंकिनो ये च रन्त ।
९९- ऋग्वेद, १/४३/५
१००- यजुर्वेद, १८/१३; अथर्ववेद, ११/३/१/७, ८/५/४; ११/३१/७

गृहयसूत्र में विविध वस्त्रों का उल्लेख हुआ है, जो उस काल के वस्त्र उद्योग पर प्रकाश डालते हैं।

बौद्ध युग में नगरों और अधिष्ठानों का विकास हुआ, जिसके कारण औद्योगिक संस्थानों का महत्त्व बढ़ा। विभिन्न औद्योगिक और व्यावसायिक वर्गों के विकास के कारण उनके पृथक-पृथक संगठन बने, जो 'श्रेणी' कहे गये। अनेक प्रकार के धातु और सिक्कों का प्रचलन इसी युग में हुआ। नगरों में निवास करने के कारण व्यापारियों को नया बाजार मिला जहाँ उनकी वस्तुएँ शीघ्रतापूर्वक बिकने लगी। व्यवसाय में उन्नति होने लगीं ।

बौद्ध साहित्य से लकड़ी का काम करने वाले वर्ग बढ़ई (वड्ठकि) की जानकारी प्राप्त होती है। एक जातक से विदित होता है कि कुछ बढ़ई वाराणसी के निकट आकर टिके थे।[101] वे जंगलों से लकड़ियाँ काटकर लाते थे तथा नावों और पोतों का निर्गाण करते थे। मकान भी लकड़ियों से निर्मित हुआ करते थे। किन्तु कौटिल्य ने लकड़ियों के मकान को आग लग जाने के कारण वर्जित बताया है।[102] राजाओं और अभिजात वर्ग के भी प्रसाद लकड़ी के ही निर्मित किये जाते थे। अजातशत्रु का भी प्रसाद लकड़ी का था। समुद्रवानिज जातक में जहाजों और नौकाओं

१०१- जातक, २/१८
१०२- अर्थशास्त्र, २/३/नत्वेव काष्ठमयम्/अग्निरहितो हितस्मिन वसति।

के बनाने का उल्लेख है। ऐसे-ऐसे विशाल जहाजों का वर्णन प्राप्त होता है। जिनमें एक हजार यात्री एक साथ बैठ सकते थे।

बौद्ध युग में धातु का काम करने वाले दक्ष धातुकारों के बारे में भी जानकारी प्राप्त होती है। मिलिंदपञ्हो में लोहा, सोना, सीसा, टिन, ताँबा आदि की वस्तुएँ बनाने वाले पृथक-पृथक वर्ग में थे।[103] अर्थशास्त्र में ताम्र और इसके मिश्रण 'कांस्य' का उल्लेख ताम्रशुल्व तथा कंस का क्रमानुसार विवरण मिलता है।[104] पतंजलि ने भी ताँबे के सिक्के का उल्लेख किया है।[105] पेरिपल्स ने पश्चिमी बाजारों से भड़ोच और कोचीन के बन्दरगाहों पर टिन और ताम्र के आने का उल्लेख किया है। भारतीय ताँबे से मेज, कुर्सी स्नान के टब और थालों का निर्माण करते थे जैसा कि स्ट्रैबो ने उल्लेख किया है।[106]

गुप्त युग में ताम्र उद्योग के विकसित होने का उल्लेख अमरकोश में मिलता है।[107] बृहस्पति ने भी ताँबे के बर्तन, मूर्ति, सिक्के आदि बनाने का उल्लेख किया है। शक सातवाहन कुषाणकाल में भी उपलब्ध सिक्कों के

१०३- मिलिन्दपञ्हो, ५-४, पृ० ३२३ ।
१०४- अर्थशास्त्र २/१२/२७ ; २/१२/३०
१०५- अग्निहोत्री, प्रभुदयाल ; पतंजलि कालीन भारत, पृ० ३५२
१०६- स्ट्रेबो, १५/६६ ; मजूमदार, आर०सी० : बलासिकल एकाउन्ट ऑफ इण्डिया, पृ० २८०-८१.
१०७- अमरकोश, ६/८६

आधार पर ताम्र-कांस्य उद्योग के अस्तित्त्व को स्वीकार किया जा सकता है ।

कालिदास ने रजत, ताम्र और अयस का उल्लेख किया है। प्राचीन भारत में रजत उद्योग के अस्तित्त्व का प्रमाण मिलता है। मनुस्मृति में शँतमान रजत-मुद्रा के रूप में वर्णित है। कौटिल्य ने लक्षणाध्यक्ष नामक अधिकारी द्वारा रजत मुद्राओं के निर्माण की देखरेख करने का उल्लेख किया है। मौर्ययुग में चांदी की कार्षापण नामक मुद्रा प्रचलित थी। अमरकोश में रजत उद्योग का उल्लेख है। बृहस्पति ने रजत से बनने वाले विभिन्न सामानों का उल्लेख किया।[108] कनिंघम ने उल्लेख किया है कि भारत में चांदी की खान नहीं थी। भारत में चांदी श्रीलंका और अफगानिस्तान से आता था।[109] मौर्य शुंगकाल में कार्षापण (चांदी की मुद्रा) के प्रचलन से स्पष्ट होता है कि इस युग में चांदी मूल्यवान धातु थी। गुप्त युग में भी चांदी के आभूषण, बर्तन, कार्षापण आदि बनते थे कालिदास ने रजत से बने सामानों का उल्लेख किया हैं।[110]

लौह उद्योग बुद्धकाल में बहुत विकसित अवस्था में पहुँच चुका था। पाणिनी ने 'कर्मार' शब्द का उल्लेख किया है जो अपनी कर्मारशालाओं में काम करते

१०८- बृहस्पति, १३/३३ ; १५/७
१०९- कनिंघम, क्वायन्स ऑफ ऐन्शियन्ट इण्डियन ।
११०- उपाध्याय, भगवतशरण : इण्डिया इन कालिदास, पृ० २५६ ।

थे। मौर्यकाल में अस्त्र-शस्त्र निर्माण करने वाले को आयुधागाराध्यक्ष कहा जाता था। पाणिनी ने अयस्कार का उल्लेख किया है जो कृषि के लिए आवश्यक औजार हल के फाल को पीटकर नुकीला तथा कील-कांटे आदि बनाता था।[111] वह लोहे के खूंटे, हंसिया, शंकुला (सरौता) कुल्हाड़ी, दरांत तथा अन्य आवश्यक उपकरणों का निर्माण भस्त्रा (धौंकनी) से हवा देकर (ये चमड़े की होती थी) करते थे। बाण, खड्ग, फराना, कुल्हाड़ी, द्विवमुखी, त्रिशूल, फावड़ा, कुदाल, आरा, गड़ासा तथा अन्य कृषि यंत्रों का निर्माण भी किया जाता था जिसका उल्लेख कौटिल्य ने किया है।[112]

बौद्ध ग्रन्थों में मृद्भाण्ड उद्योग की जानकारी प्राप्त होती है इन ग्रन्थों में 'कुम्भकार' शब्द का उल्लेख हुआ है। पाणिनी ने 'कुलाल' शब्द से सम्बोधित किया है। जातकों में उल्लेख है कि कुम्भकार चाक पर मिट्टी के बर्तन बनाते थे। अर्थशास्त्र में भी घड़ों, शकोरों आदि मिट्टी के बर्तनों का उल्लेख मिलता है जिसकी गणना 'कुप्य' में की जाती थी।

प्राचीन काल से चर्म उद्योग विकसित अवस्था में था। बौद्ध ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के जूतों तथा चप्पलों का उल्लेख मिलता है। जिससे धर्म शिल्पियों के कौशल का पता चलता है। जातकों से विभिन्न प्रकार के जूते

१११- अग्निहोत्री, प्रभुदयाल ; पतंजलि कालीन भारत, पृ० ३१३-३१४
११२- अर्थशास्त्र २/१४/१२

बनाने का ज्ञान प्राप्त होता है जिसमें स्वर्ण जटित जूते भी होते थे। मैंगस्थनीज़ ने श्वेत जूतों का वर्णन किया है।

महाकाव्यों से भी रत्न, रजत, मणि, मुक्ता, मृगचर्म, कम्बल आदि अनेकों उद्योगों के विकसित होने की जानकारी प्राप्त होती है। हाथी दांत से सम्बन्धित आभूषणों एवं शस्त्र तथा सुवर्ण जटित रथ निर्माण का कार्य भी किया जाता था।[113]

प्रो० आर०एस० शर्मा ने विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख किया है।[114] बुद्धकाल में शिविदेश सूत्री-वस्त्र तथा गन्धार ऊनी वस्त्रों के लिए सुविख्यात थे। रेशमी वस्त्र को कोसेयय कहते थे। बौद्ध ग्रन्थों में पेशकार (बुनकर) तन्त (तन्त्र करघा) तन्त भण्ड (अनेकों समान) तथा तन्त वितध्यानम (बुनने का स्थान) शब्दों के प्रयोग से पता चलता है कि समाज में वस्त्र बुनने का कार्य प्रचलित था। मौर्य शुंग काल में वस्त्र उद्योग उन्नत अवस्था में था। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि वस्त्र उद्योग सूत्राध्यक्ष नामक राजकीय अधिकारी की देख-रेख में संचालित होता था। कुशल शिल्पियों द्वारा सूत्र, चर्म, वस्त्र तथा रस्सी का निर्माण किया जाता था। शक-सातवाहन, कुषाण काल में वस्त्र उद्योग विकसित अवस्था में था। दक्षिण भारत की नारियां साड़ी, कमरबन्द, फेटा आदि धारण करती

११३- महाभारत, सभापर्व, ४६/३५ ; ५.२३-२४/ ५१/३?२०-३०
११४- शर्मा, आर०एस० ; लाइट ऑन अर्ली इण्डियन सोसाइटी एंड इकनामी, पृ० ६०/६१.

थीं। गुप्तकाल में भी वस्त्र उद्योग अत्यन्त विकसित अवस्था में दिखाई पड़ता है।

जातकों में दन्तकार विधियों का उल्लेख मिलता है जिससे इस उद्योग की विकसित अवस्था का पता चलता है। हाथीं दांत पर नक्काशी उसके आभूषण एवं दर्पण के मूठ आदि बनाये जाते थे। वाराणसी में हाथी दांत के सुन्दर आभूषणों का निर्माण किया जाता था।[115] अर्थशास्त्र में हाथी दांत काटने की विधि एवं सयम का उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि हस्ति दन्त उद्योग विकसित था।[116] बौद्ध युग में भी हाथी दांत की विभिन्न कलात्मक वस्तुएँ बनाने वालों का वर्ग समाज में स्थापित हो गया था। हाथी दांत के विभिन्न प्रकार के आभूषण तद्‌युगीन अद्‌भुत हस्त कौशल और कलात्मक कल्पना का बोध कराते हैं। इस उद्योग में कार्यरत लोगों के रहने के स्थान को दन्तकार वीथी (सड़क) कहा जाता था। ऐसे व्यवसायी कभी-कभी जंगलों में जाकर हाथी का शिकार करते थे और औद्योगिक संस्थाओं को हाथी दांत देते थे। विवेच्य काल में हाथी दांत के विभिन्न प्रकार के आभूषण, खिलौने, घरेलू वस्तुएँ आदि निर्मित की जाती थीं। उपर्युक्त उल्लेखों से विवेच्य काल में हस्ति दन्त उद्योग के विकसित अवस्था का पता चलता है, जिसमें समाज का एक वर्ग संलग्न था।

११५- जातक २/१९७, "दन्तकारवीधियं दन्तकारवलयादीनि करीन्ते दिस्या......" ।
११६- अर्थशास्त्र २/३२/२७

बौद्ध युग में गृह निर्माण उद्योग भी विकसित अवस्था में था। बौद्ध ग्रन्थों में कोट्टक, ढूट्ठक, वड्ठकि तथा गहपतिसिप्पकार का उल्लेख मिलता है। लकड़ी के मकानों के अतिरिक्त ईंटों के भी मकान बनाये जाते थे। दीवारों पर चित्रकारी करके भवन को सुसज्जित किया जाता था। पाटलिपुत्र नगर विन्यास, तद्‌युगीन गृह निर्माण कला का सर्वोत्कृष्ट एवं विकसित उदाहरण प्रस्तुत करता है।

बौद्ध ग्रन्थों में मेरय, सुरा, वारण, तथा आसव आदि शब्द सुरा के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[117] पाणिनी ने भी तीन प्रकार की सुरा मद्‌य (तीक्ष्ण) सुरा (सुरा) सामान्य तथा मैरेय (विशिष्ट सुरा) का उल्लेख किया है।

माल्य तथा इत्र उद्योग भी बौद्ध काल में विकसित अवस्था में थे। जातकों में सुगन्धित पुष्पों की मालाओं का उल्लेख किया गया है। कासिक चन्दन से सुगन्धित तेल व इत्र बनाया जाता था।[118] मल्लिका, प्रियंगु तथा कमल आदि सुगंधित पुष्पों से भी इत्र बनाया जाता था। अर्थशास्त्र में विभिन्न आकार-प्रकार के गंध के चन्दनों का उल्लेख प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त कई धन्धों का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है। भिक्षावृत्ति, दानवृत्ति, अध्यापन

११७- अंगुत्तर निकाय, २/५३
११८- संयुक्त निकाय ५/४०७

वृत्ति, भिषगवृत्ति, वैश्यावृत्ति,नट-नर्तन, नापित वृत्ति, चाण्डालवृत्ति, दर्जीवृत्ति, रजकवृत्ति आदि।

ये सभी उद्योग धन्धे काफी महत्त्वपूर्ण थे। जनसंख्या का अधिकाधिक भाग किसी न किसी उद्योग को अपनी आजीविका का साधन या धंधा बनाया था। एक तरफ ये उद्योग समाज के लोगों को रोजगार प्रदान करते थे तो दूसरी तरफ समाज के रोजमर्रा एवं ऐशो-आराम की वस्तुओं का उत्पादन भी करते थे। इन उद्योग के कारण नगरों एवं बड़े नगरों तथा व्यापारिक संगठनों का विकास हुआ, जिसके परिणामस्वरूप वैदिककालीन वर्ण विहित कर्म का सिद्धान्त शिथिल होता गया।

आन्तरिक एवं वैदेशिक व्यापार

प्राचीन काल से ही समाज के उत्थान में कृषि और पशुपालन व्यवसाय का महत्त्व था, धीरे-धीरे व्यापार और वाणिज्य का विकास हुआ और सामाजिक उत्कर्ष से आन्तरिक और वैदेशिक व्यापार ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। वैदिक काल के पूर्ववर्ती समाज में व्यापार अथवा वाणिज्य का कोई उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ था। ग्रामों एवं नगर की स्थापना के बाद नागरिकों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों और शिल्पों, व्यवसायों का विकास हुआ। इस प्रकार क्रय-विक्रय से व्यापार का विकास हुआ और व्यापारिक मार्गों का विकास हुआ।

प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से विदित होता है कि व्यापारी तीन प्रकार के होते थे। फेरी

वाले, फुटकर तथा थोक विक्रेता। फेरी वाले कम पूँजी के व्यापारी होते थे जो सामान गधे की पीठ पर, गाड़ी पर लादकर तथा सिर पर रखकर एक जगह से दूसरी जगह घूम-घूम कर बेचते थे। इसमें कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं दिखाई देती; क्योंकि ये समझौता के आधार पर तय करके अपने सामान को विभिन्न गांवों एवं नगरों में बेचते थे।[119] मौर्य युग में व्यापार वाणिज्य विकसित हो गया था। बाजार में बेची जाने वाली वस्तु पण्य कही जाती थी। व्यापार-वाणिज्य की देख-रेख के लिए पण्याध्यक्ष नामक राजकीय अधिकारी नियुक्त होता था।[120] अर्थशास्त्र में फुटकर विक्रेताओं का उल्लेख मिलता है जिन्हें 'वैयापूत्यकार' तथा कहीं-कहीं 'वैदेहक' कहा गया है। फुटकर विक्रेता,बड़े व्यापारियों से माल लेकर प्रायः अपनी दुकानों पर बेचते थे तथा थोक व्यापारियों को यथोचित मूल्य एवं उधार लिये गये माल पर ब्याज देते थे।

थोक विक्रेता बहुत बड़े व्यापारी होते थे, जो एक बार में ही बहुत काफी माल बेचते थे। अर्थशास्त्र में इनके लिए 'विक्रीण' शब्द का प्रयोग हुआ है। ये ही फुटकर विक्रेताओं के लिए भी सामानों का मूल्य तय करते थे।[121]

११९- जातक २/१०६/, १/२०५, ३/२१, १, १११ ।
१२०- अर्थशास्त्र, २/१६,
१२१- अर्थशास्त्र ३/१२/२२; यथा समभाषितं वा विक्रीणाना नीभयमधि गच्छेयुः ।

आन्तरिक व्यापार की सामग्रियाँ

जैन ग्रन्थों में गणिमा (गिनी जाने वाली) परिमा (तोली जाने वाली) मेय (नापी जाने वाली) तथा परिच्छेद्य (टुकड़ों में विभाजित होने वाली) चार प्रकार की व्यापारिक वस्तुओं का उल्लेख मिलता है। सोना, हाथी दांत, रेशमी वस्त्र, कम्बल आदि की बिक्री का भी उल्लेख मिलता है।[122]

आन्तरिक व्यापार में आभूषण, गन्ध, माला, धान्य, रस, पकवान, सुरा, मांस, औषधि, फल-फूल, शाक, मूलकन्द, हीरा, मणि, मुक्ता, शंख, हार, कीमती वस्त्रादि, चन्दन, अगरू, लोहा, बर्तन, इत्यादि अनेकानेक जीवनोपयोगी वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता था। अर्थशास्त्र में भी अनेक प्रकार के हीरे-मोती, मणियाँ, चन्दन, तगर, अगर, चमड़े, कम्बल दुकूल (दुशाला) ऊन, रेशमी, तथा सूती वस्त्र तथा कपास आदि के व्यापार का उल्लेख मिलता है।[123]

बौद्ध युग में ऐसे भी व्यापारी थे, जो व्यापार में अपना धन लगा तो देते थे किन्तु उसकी व्यवस्था और देखभाल आवश्यक नहीं था कि स्वयं करें। इस प्रकार के व्यापारियों को 'वस्निक' की संज्ञा प्रदान की गई थी। तत्कालीन समाज में 'सांस्थानिक' नामक व्यापारी भी थे जिन्हें

१२२- जैन, जै०सी० ; लाइफ इन ऐंशियन्ट इंडिया, पृ० ११४-११५
१२३- अर्थशास्त्र, २/११/६-८/ आदि ।

परवर्ती कालीन 'सार्थवाह' नामक व्यापारी से समीकृत किया जा सकता है। 'प्रास्तारिक' व्यापारी खनिज वस्तुओं का व्यापार करते थे और 'काठिनिक' व्यापारी बांस, बबई (बल्वज), बाध (वर्ध) आदि का। वस्तुओं के विक्रय के अनुरूप व्यापारियों के भी नामकरण होते थे, जैसे अश्व का व्यापार करने वाला 'अश्ववाणिज' तथा गौ का व्यापार करने वाला 'गोवाणिज' । कभी-कभी स्थानों के नाम पर व्यापारियों के नाम होते थे। जैसे- काश्मीर वाणिज, मद्रवाणिज, गान्धारवाणिज आदि। 'परमवाणिज' तथा उत्तमवाणिज अन्य व्यापारियों से श्रेष्ठ होते थे।

जातकों से विदित होता है कि व्यवसाय की विभिन्न 'वीथियां' बनी थीं।[124] मांस, शराब, अस्त्र एवं दासों के क्रय- विक्रय भद्र एवं विशिष्ट जनों के सम्मुख नहीं किये जाते थे।[125] व्यापारियों की समस्या का समाधान और उनके हितों की रक्षा 'सेट्ठी' ही किया करता था ।

मौर्य युग में पण्य सम्बन्धी चुंगी, तौल, माप विदेशी व्यापार का निरीक्षण क्रमशः शुल्काध्यक्ष, पोताध्यक्ष और अन्तपाल किया करते थे। संस्थाध्यक्ष नामक अधिकारी वस्तुओं को गोदाम में रखने और बेचने की व्यवस्था करता था। कौटिल्य ने ऐसी भी व्यवस्था दी थी कि

१२४- जातक १/३२०

१२५- अंगुत्तर निकाय, ३/२०८

अगर सभी व्यापारी मिलकर माल को रोक लें और अनुचित मूल्य पर क्रय-विक्रय करें तो उनमें से प्रत्येक पर एक एक हजार पण का अर्थ दण्ड लगा देना चाहिए ।

महाकाव्यों से भी वाणिज्य के विकासक्रम की सूचना मिलती है। रामायण में एक स्थल पर राम ने भरत को कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य की हित रक्षा करने के लिए सलाह दी है।[126]

महाभारत के वर्णन के अनुसार पाण्डवों को मिलने वाले उपहारों में पूर्वी देशों के हाथी, कम्बोज, गांधार, वाहलीक और प्राग्ज्योतिषपुर के अश्व, पश्चिमी क्षेत्रों के ऊँट, कम्बोज के ऊनी वस्त्र, वाहलीक और चीन के रेशमी वस्त्र, उपरान्त और पूर्वी क्षेत्र के सूती वस्त्र, प्राग्ज्योतिषपुर, अपरान्त और पूर्वी क्षेत्रों के आयुत्र, पाण्ड्य और म्लेच्छ देशों के मोती तथा सिन्धु देश के शालि सम्मिलित थे।[127]

पतंजलि ने व्यापारिक वस्तुओं के लिए 'पण्य' शब्द का व्यवहार किया है और बाजार के लिए 'आपण' का उस समय विक्रयार्थ आई हुई वस्तुओं को 'क्रय्य' कहा जाता था।[128]

गुप्त युगीन आन्तरिक व्यापार 'श्रेष्ठि'

१२६- रामायण, अयोध्याकाण्ड, १०३ ।

१२७- महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १६६, २२१; सभापर्व, २८,३०, ४६,५१

१२८- महाभाष्य, ३/१/१०१ ; ३/३/१६ ; ६/१/८२

और सार्थवाह के माध्यम से संगठित और व्यवस्थित होता था। व्यापारियों को 'सार्थ' या कभी-कभी 'सांगात्रिक' भी कहा जाता था। पूर्वमध्य युग में भी आन्तरिक व्यापार का विस्तार पहले की भाँति विस्तृत था। व्यक्ति की आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुएँ उत्पादित की जाती थी, जिन्हें बाजारों और हाटों में लाकर बेचा जाता था।

मेधातिथि ने मनु पर भाष्य करते हुए लिखा है कि वैश्य लोग अन्तरप्रादेशिक व्यापार में संलग्न रहते थे, जो दूसरे प्रदेश की निर्मित विशिष्ट वस्तुएँ राज्य में आयात करते थे।[129] समराइच्चकहा से ज्ञात होता है कि धरण नामक व्यापारी, जो माकन्दी का रहने वाला था, क्रय--विक्रय के लिए अचलपुर जाता था, और अपने नगर के लिए उपयुक्त वस्तुएं क्रय करके ले आता था। बाजार में भोजन सामग्री और वस्त्र आदि का विक्रय होता था।[130]

हेमचन्द्र ने क्रय-विक्रय के लिए 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग किया है।[131] उस समय तीन प्रकार के व्यापारी होते थे। एक प्रास्तारिक, जो सोना, चांदी, लोहा, तांबा आदि खनिज पदार्थों का व्यापार करते थे, दूसरे सांस्थानिक, जो गाय, घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि पशुओं का व्यापार करते थे, और तीसरे कठिनान्तिक, जो बांस, चमड़ा, लाख आदि वस्तुएं बेचते थे। उत्तर प्राचीन कालीन अनेक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि

१२६- मेधातिथि, मनुस्मृति, १/६०/३१
१३०- समराइच्चकहा, ६, पृ० १६, ७, पृ० ७१७
१३१- शब्दानुशासन, ६/४/१५८

व्यापार के निमित्त दूर-दूर से व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते जाते थे। पेहोआ (करनाल) अभिलेख के अनुसार देश के विभिन्न स्थानों के अश्वों के व्यापारी यहाँ एकत्र होते थे, और अश्व का क्रय-विक्रय करते थे।

विदेशी व्यापार

भारत में प्रागैतिहासिक काल से आर्यों का विदेशियों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रहा है तथा अनेक वस्तुओं का आयात और निर्यात होता रहता था। उस समय के लोग व्यापार के लिए जल तथा स्थल दोनों मार्गों का उपयोग करते थे। सुमेर और सिन्ध दोनों सभ्यताओं की प्राप्त वस्तुओं से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दोनों के बीच में कुछ व्यापारिक सम्बन्ध था, जो ब्लूचिस्तान के माध्यम से स्थापित हुआ था। लोथल वहाँ का प्रमुख बन्दरगाह था।

वैदिक युग में भी भारत का वैदेशिक व्यापार होता था। आर्य व्यापारियों के लिए उस समय 'देवपणि' शब्द का प्रयोग किया जाता था। जो फारस की खाड़ी तक जाते थे, और सुमेरी व्यापारियों से क्रय-विक्रय करते थे मिस्र, असीरिया और बेबीलोन से भी भारतीयों का आदान-प्रदान चलता था।

भारत की अनेकानेक वस्तुएं पश्चिमी देशों में लोकप्रिय थीं। मिस्र की ममी के साथ नीम तथा इमली की लकड़ी और मलमल जैसी भारतीय वस्तुएं रखी जाती थीं। बौद्ध-साहित्य से भारत के विदेशी व्यापार का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। तत्कालीन युग में भारत का पश्चिमी

और पूर्वी देशों से व्यापारिक सम्बन्ध होने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। पाँचवी सदी ई०पू० में विकसित भारतीय वैदेशिक व्यापार अपनी पराकाष्ठा पर था। सुवर्णभूमि के अन्तर्गत बर्मा, मलाया, श्याम, कम्बोडिया, अनाम आदि प्रदेश सम्मिलित थे। महाजनक जातक से ज्ञात होता है कि भारतीय व्यापारी सुवर्णभूमि की यात्रा किया करते थे। तथा विभिन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे। इस प्रकार जातकों में भारतीय व्यापारियों की अनेक कथायें दी गई हैं। जो व्यापार के लिए कष्ट उठाकर भिन्न-भिन्न देशों में जाते थे, व्यापार करते थे, तथा धन कमाकर स्वदेश लौटते थे।[132] मैंगस्थनीज ने ताम्रपर्णि के सन्दर्भ में लिखा है कि वहाँ भारत से अधिक स्वर्ण, मोती और बहुमूल्य रत्न मिलते थे।[133] स्ट्रैबो के उल्लेख से ज्ञात होता है कि मिस्र के टालमी शासकों के युग में अनेक यूनानी भारत की यात्रा किया करते थे तथा विभिन्न वस्तुओं का आदान-प्रदान किया करते थे। कौटिल्य ने विदेशी व्यापार से सम्बन्धित अनेक विषयों पर विचार किया है। 'नावाध्यक्ष नामक अधिकारी के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत नदी, समुद्र आदि सभी जल मार्ग आते थे वह समुद्र, नदी आदि के तट पर बसे हुए लोगों से राजकीय कर लेता था।[134] राजकीय कार्यकर्ता यह हमेशा ध्यान रखता था कि व्यापारियों का सामान बाजारों में सुरक्षापूर्वक पहुँच जाये तथा

१३२- सुप्पारक जातक ४६३, दीध निकाय, १,२२२ ।
१३३- मैंगस्थनीज एण्ड एरियन, पृ० ६०
१३४- अर्थशास्त्र, २/२८, नावाध्यक्ष : समुद्रसंमान ।

मूल्य जनहित वस्तुओं के के आधार पर नियंत्रित हों। पहले यह उल्लेख किया जा चुका है कि स्वदेश निर्मित वस्तुओं और विदेश निर्मित वस्तुओं के क्रय मूल्य में राज्य की ओर से भिन्नता रखी जाती थी तथा प्रजा का हित सर्वोपरि माना जाता था।

विदेश जाने वाले व्यापारी के लिए कौटिल्य ने अनेक निर्देश दिये थे। उनका कथन है, कि ''पण्याध्यक्ष के अधीन अपने देश का कोई व्यापारी विदेश में व्यापार करने जाये और किसी विपत्ति में पड़ जाये तो वह अपने माल और अपने शरीर की रक्षा करें। जब तक वह परदेश से स्वदेश न लौटे तब तक उस देश के राजा को प्राप्य सारा कर चुकाकर वाणिज्य व्यापार करता रहे। इसी प्रकार यदि कोई वणिक् जल मार्ग से जाकर परदेश में वाणिज्य करे तो उसे यान-भाटक (नौका का भाड़ा) पथ्यदन (मार्ग में भोजन का खर्च) अपने और विदेशी माल के मूल्य का तारतम्य, यात्रा काल, भय प्रतिकार (मार्ग में चोरों आदि के भय को दूर करने का उपक्रम) और पण्य पत्तन चारित्र्य (जिस देश में जाना हो वहां का आचार-व्यवहार) में जानकार होना चाहिए।

कौटिल्य ने लिखा है कि ब्रह्मदेश और सुमात्रा द्वीप के सुवर्णकुड्य नामक स्थान से उत्पन्न दुकूल सूर्य की किरणों के रंग का होता था।[135] इसी प्रकार चीन

१३५- अर्थशास्त्र, २/११ सौवर्णकुडयकं सूर्यचर्ण

देश में उत्पन्न चीनपट्ट नामक कौशेय भी था।

ये उल्लेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि चौथी सदी ई०पू० में ब्रह्म, सुवर्णद्वीप, चीन आदि विभिन्न देशों से अनेक सुन्दर वस्त्रों का आयात भारत में किया जाता था। उस युग में 'चीनांशुक' अथवा चीनी वस्त्र भारत में बहुत लोकप्रिय थे। कालान्तर में पश्चिमोत्तर प्रान्त के कुषाण राजवंश और दक्षिण के सातवाहन राजवंश के समय विदेशी व्यापार अधिक समुन्नत हुआ। सातवाहन मुद्राओं पर नौ पोतों के चित्र इस बात को प्रमाणित करते हैं कि तत्कालीन युग में समुद्री व्यापार अपने उत्कर्ष पर था। भारत और पश्चिमी देशों के बीच का सम्पर्क और घनिष्ठ हुआ। मिस्र, रोम और यूनान आदि देशों में विभिन्न प्रकार के वस्त्र, रत्न, आभूषण, सुगन्धित द्रव्य, प्रसाधन सामग्री आदि भारत में भेजी जाती थी। भारत में अरबी घोड़े सदा से प्रसिद्ध रहे हैं। इलायची, मिर्च, मसाले आदि पूर्वी द्वीपों से भारत आते थे। पहली सदी के 'इरीथ्रियन सागर का पेरिप्लस' नामक ग्रन्थ में भारत में आयात होने वाली और भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं का वर्णन हुआ है जो भृगुकच्छ (भड़ौच), कल्याण, जैसे पश्चिमी बन्दरगाहों (पत्तनों) से तथा ताम्रलिप्ति जैसे पूर्वी बन्दरगाह से दूसरे देशों को भेजी जाती थी और दूसरे देशों से आने वाली वस्तुएँ वहाँ उतारी जाती थीं।

चीनी यात्री श्वानच्वांग के अनुसार पश्चिम में कपिसा एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था, जहाँ भारत

के विभिन्न भागों से विभिन्न वस्तुएँ आती थीं, जो ईरान से होती हुई यूरोप तक जाती थीं। इसी प्रकार पूरब में ताम्रलिप्ति सर्वाधिक जाना माना बन्दरगाह था, जो दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों के लिए विभिन्न वस्तुएँ भेजता था। कागज, मसाले, कपूर विभिन्न प्रकार के महीन वस्त्र, गोमेद, हीरा, पदमराग आदि विभिन्न रत्न, प्रसाधन सामग्री, धातु के कलात्मक वर्तन आदि विदेशों को भेजे जाते थे तथा विदेशों से चीनाशुंक जैसे वस्त्र, अश्व, मदिरा, स्वर्ण और रजत मुद्रायें भारत में प्राप्त की जाती थीं ।

व्यापारिक मार्ग

प्राचीनकाल से ही आन्तरिक और वैदेशिक व्यापार के संचालन के लिए जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनों का प्रयोग होता रहा है। वैदिक-काल से ही आर्यो के भारत में आगमन के पूर्व से ही भारतीय अन्य देशों में जाकर अपनी वस्तुएं बेचते थे तथा अन्य देशों की वस्तुएं अपने देश में लाते थे। सिन्धु सभ्यता के लोग पश्चिम में सुमेर,बेबीलोन आदि स्थानो से होकर मिस्त्र पहुंचते थे। उस समय लोथल प्रमुख बन्दरगाह था। अनेक प्रकार के वणिक् पथों का निर्माण हुआ, जिनके द्वारा भारतीय व्यापारी दूर-दूर तक जाते थे।

स्थलमार्ग

वैदिक-काल में यात्री बैल, घोड़े, ऊॅट, गधे और भैसों पर सामान लादकर यात्रा करते थे। कभी-कभी वे रथों और घोड़ागाड़ी का भी प्रयोग करते थे। उत्तरवैदिक काल तक अनेक नगरों का विकास हो चुका था।

से सभी नगर एक-दूसरे से स्थल के माध्यम से जुड़े हुए थे। पाणिनी ने अनेक वाणिज्य पथों को उल्लेख किया है जो एक नगर से दूसरे नगर को मिलाते थे।[136] उस समय वारि-पथ, स्थल-पथ, रथ-पथ, करि-पथ, अज-पथ शंकुपथ, राज-पथ, सिंह-पथ, हंस-पथ, देव-पथ आदि आवागमन के मार्ग विभिन्न नामों के रूप में प्रचलित थे। स्थलमार्ग का प्रसार बौद्ध-युग में भी हुआ तथा विभिन्न भागों के वणिक अनेकानेक मार्गो से व्यापार के लिए यात्रा करते थे। सुदूर पश्चिम से लेकर पूर्व तक एक विशाल लम्बा मार्ग था। मगध से मिथिला, वाराणसी, सहजाति और कौशाम्बी तक इसका उपयोग होता था।[137] विदेह से काश्मीर और गंधार तक व्यापारी जाया-आया करते थे जो सिंघ से अश्वदेश के विभिन्न भागों को विक्रय के लिए जाते थे।[138] सौवीर में अन्य स्थानों के अतिरिक्त मगध के भी व्यापारी आते थे। रात्रि मे राजस्थान जैसे मरुस्थल की यात्रा तारों के आधार पर की जाती थी।

महाकाव्यों से भी स्थलमार्ग की जानकारी प्राप्त होती है। रामायण में उल्लेख है कि अयोध्या में विभिन्न देशों के व्यापारी निवास करते थे।[139] अनेक ऐसे मार्गो की जानकारी रामायण से प्राप्त होती है जो नगरों और

१३६- अष्टाध्यायी, ४/३/२५, तद्गच्छति पथि इतयोः।
१३७- जातक, १/६८/३६८।
१३८- जातक, १/२४,२३१,२८७।
१३९- रामायण, बालकाण्ड, ६, नानादेशनिवासैश्च वणिक्भिरूपसेवितम्।

राजधानियों को जोडते थे। जिससे व्यापारी अपनी वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुगमता पूर्वक ले जाते थे।[140] महाभारत-काल में भारत के सम्पूर्ण भू-भाग और विख्यात नगर राजपथों से जुडे हुए थे।[141] महाभारत में कम्बोज, गान्धार, बाह्लीक, प्राग्जोतिषपुर (आसाम), अपरान्त, पाण्डय, सिन्धू आदि अनेक प्रदेशों का उल्लेख हुआ है, जो निश्चय ही तत्कालीन सम्पर्क-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। इन स्थानों से विभिन्न वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था।

मौर्य-युग में व्यापारिक मार्गो का अत्यधिक विकास हो गया था, जिनसे होकर व्यापारी और सैनिक जाया करते थे। सर्वाधिक लम्बा और चौड़ा मार्ग पाटलिपुत्र से पुरुषपुर, काशी, कौशांबी, मथुरा तथा तक्षशिला जैसे नगर स्थित थे। कौटिल्य ने लिखा है कि मार्ग पर कूड़ा फैंकता था तो उसे अष्टमांशपण का दण्ड दिया जाता था। यदि उस पर कीचड़ और जल दोनो फैंकता था तो उसे चौथाई दण्ड दिया जाता था। यदि राजमार्ग पर दोनो चीजें फैंकी जाती थी तो उसे दूना दण्ड देना पड़ता था।[142]

अशोक द्वारा देश के विभिन्न भागों में खुदवाए गये विभिन्न अभिलेख उसके समय के विकसित मार्गो का परिचय देते हैं। सार्थवाह लम्बी-लम्बी यात्राएँ किया करते थे, जिनमें रथ, सार्थ, बैलगाड़ी, घोड़े, ऊँट आदि का उपयोग

१४०- रामायण अयोध्याकाण्ड, ६७/२२
१४१- महाभारत, ३/६१/२१-२३।
१४२- अर्थशास्त्र, २/३६।

करते थे। मार्गो में स्थान-स्थान पर कुएँ बने होते थे, जहाँ थके हारे वणिक् बैठकर जल पीते थे। पाटलिपुत्र जाने वाले मार्ग में अनेकानेक कुएँ पड़ते थे।[143] पाटलिपुत्र जाने वाले मार्ग के बीच में मथुरा, अयोध्या, कौशाम्बी आदि कई नगर पड़ते थे। उत्तरापथ का यह मार्ग प्रचलित और ख्यात मार्ग था।

जलमार्ग

आन्तरिक और वाह्य व्यापार में जल मार्ग का उपयोग किया जाता था। प्राचीन काल में जलमार्ग यातायात का प्रमुख साधन था। प्राचीन काल में जलमार्ग द्वारा ही सैन्धव सभ्यता के लोग सुमेर, बेबीलोन आदि अनेकानेक विदेशी देशों के साथ व्यापार करते थे। जिसकी पुष्टि पुरातात्त्विक साक्ष्यों से होती है। ऋग्वेद में साधारण नौकाओं और सौ डांडो से चलने वाली बड़ी नौकाओं (पोतों) का उल्लेख मिलता है।[144] सिलनिसंस जातक में सात रत्नो से भरी हुई एक नौका का उल्लेख आया है, जिसमें तीन मस्तूल, इन्द्रनीलमणि के जोते तथा सोने के चम्पू लगे हुए थे।[145] जातकों में एक हजार परिवार को बैठाकर यात्रा करने वाले पोतों का उल्लेख मिलता है। पाणिनी ने पानी में चलने वाले वाहनो को उदकवाहन या उद्वाहन कहा है। उन्होनें (नौ)

१४३- माहाभष्य, ३/३/१३३।

१४४-ऋग्वेद, १/११६.५.,"शतारिलानावमातस्थिवासंम्।"
१४५-जातक २/१६०।

अरित्र, नाविक आदि शब्दों का उल्लेख किया है जो उद्वाहनों से सम्बन्धित हैं।[146]

भारत में छोटी–बड़ी अनेक नदियॉ होने के कारण व्यापारियो को अपना माल गन्तव्य स्थान तक ले जाने में बड़ी सुविधा होती थी। सिन्धु, वितस्ता (झेलम) असिक्नी (चेनाब) परूष्णी (रावी), विपाश (व्यास) शतुद्री या शतुद्र सतजल और सरस्वती आदि नदियॉ पंजाब में; गंगा, यमुना, सरयू, गोमती आदि नदियॉ उत्तर भारत में; ब्रह्मपुत्र आसाम में; नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा आदि नदियॉ दक्षिण भारत में बहती रहती हैं, जिन्हें व्यापार के लिए वणिक प्रागैतिहासिक काल से ही उपयोग में लाते रहे हैं। एक जातक में उल्लिखित है कि एक वणिक्–पोत बेचा गया था, जिसे एक नवयुग ने क्रय कर दो लाख मुद्राओं का लाभ प्राप्त किया था। बौद्ध–ग्रन्थ चुल्लवग्ग से ज्ञात होता है कि मगध से ५०० भिक्षुओ के साथ आनन्द नौका से कोशाम्बी गये थे।[147] कुम्रहार के उत्खनन से पता चलता है कि चुनार के भारी प्रस्तर–स्तम्भ गंगा नदी द्वारा ही पाटलिपुत्र लाये गये थे।[148]

बड़ी नौकाओं के साथ–साथ छोटी नावों द्वारा भी व्यापार का उल्लेख मिलता है। ये छोटी नावें

१४६- अष्टाध्यायी ६/३/५८, ५१४/६६, ३/२/१८४,४१ ४/७।
१४७-चुल्लवग्ग, ११/१/१२।
१४८-सिंह, एम.एम.,लाइफ इन नार्थ इस्टर्न इण्डिया पृष्ठ- २४०।

नदी मार्ग के अलावा छोटी नहरों में प्रयोग में लायी जाती थीं। कौटिलीय-अर्थशास्त्र में कुल्याओं द्वारा व्यापार करने का उल्लेख मिलता है।[149]

यह स्पष्ट है कि ईसापूर्व छठी शताब्दी में समुद्र-पथ, नदी-पथ तथा, कुल्या-पथ (नहर-मार्ग) का प्रयोग व्यापार के लिए पर्याप्त मात्रा में किया जाता था। नहरों तथा नदियों में कम दूरी पर ही भूमि होने तथा इनके बहाव की दिशा स्पष्ट होने के कारण मार्ग-भ्रम होने की सम्भावना प्रायः नगण्य रहती थी। लेकिन समुद्र-यात्रा के समय दिशा भ्रम होने की पर्याप्त सम्भावना रहती थी। इसके समाधान के रूप में यात्रियों द्वारा पक्षियों का प्रयोग किया जाता था। दीघनिकाय में उल्लेख मिलता है कि प्राचीन काल मे सामुद्रिक-व्यापारी जहाज पर एक दिशाकाक लेकर यात्रा करते थे तथा किनारे की खोज के लिए दिशा काक को छोड़ते थे। वह उड़ता था तथा भूमि देखते ही उतर जाता था; परन्तु भूमि न दिखने पर पुनः जहाज में लौट आता था। बेबीलोन में दिशाकाक, पंडु तथा गौरैया छोड़कर व्यापारिक नावों की दिशा तथा किनारा ज्ञात किया जाता था।[150]

नवपरिवहन में आने वाली कठिनाईयों के निवारण के लिए लोग प्रायः ईश्वर की तथा अपने आराध्य देवी-देवताओं की प्रार्थना भी किया करते थे। तत्कालीन राजा

१४९- अर्थशास्त्र, ७/१२/२६।
१५०- मोती चन्द्र, सार्थवाह पृष्ठ- ६३।

भी इस प्रकार के व्यापार को संरक्षण प्रदान करते थे।

वणिक् समुदाय तथा श्रेणियाँ

वैदिक काल से ही व्यापारिक कार्य-कलापों का उल्लेख प्राप्त होता है। व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान तथा द्रव्य लेकर आते जाते थे तो उन्हें रास्ते में यदा-कदा लुटेरों तथा हिंसक पशुओं का सामना करना पड़ता था। ऐसी स्थिति में एकाकी व्यापार पर निकलना खतरनाक था। इस खतरे से मुक्ति के लिए व्यापारी संगठित होकर आते-जाते थे। इन्हीं संगठनों ने श्रेणियों का रूप धारण कर लिया। डा० राधाकमल मुखर्जी के अनुसार वैदिक-साहित्य में प्रयुक्त 'श्रेष्ठ्य' शब्द का अर्थ श्रेणी का मुखिया है।[151] यद्यपि आर० सी० मजूमदार ने मुखर्जी के विचार से असहमति प्रकट की है। पाणिनी ने विभिन्न प्रकार के सगंठनों के लिए गण, पूग, व्रात तथा संघ शब्दों का प्रयोग किया है।[152] जो भी हो प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट है कि बुद्ध के काल तक व्यापार अत्यन्त उन्नत अवस्था में पहुचँ चुका था तथा व्यापारियों का सुसंगठन भी निगम, श्रेणी तथा सार्थवाह के रूप में हो गया था। विविध जातको में वार्णित श्रेणियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ये श्रेणियाँ एक तरह के काम करने वाले जातियों के संगठन का रूप ले चुकी थीं। इन श्रेणियों में राजों, लुहारों और बढ़इयों

१५१- मुखर्जी आर० के०, लोकल गवर्नमेन्ट इन ऐसियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ - ४२-४३।

१५२- अष्टाध्यायी, ५/२/२१, ५/२/५२।

के अतिरिक्त सोना, चॉदी आदि धातुओं, बासॅ, पत्थर, चमड़ा, हाथी दॉत का काम करने वालों, जौहरियो, जुलाहों, कुम्हारों, तेलियों, टोकरी बनाने वालों, रंगरेजों, चित्रकारों, धान्य के व्यापारियों, मछुओं, कसाईयों, नाईयों, मालियों, मल्लहों, व्यापारियो के मार्ग दर्शकों, सार्थवाहों, डाकुओं, लुटेरों और महजनों की श्रेणियॉ सम्मिलित थीं।

सूत्र-ग्रन्थों में भी इन श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। डा० आर. सी. मजूमदार ने श्रेणी का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उन्होनें बताया है कि वह समाज अथवा निम्न जाति के परन्तु सामान व्यापार एंव उद्योग अपनाने वाले लोगो का संगठन था।[153] व्यावसायिक श्रेणियॉ होती थी जिन्हें निगम कहा जाता था। व्यापारियों को गृहपति, कुटुम्बिक तथा सेट्ठि आदि सम्बोधनों से पुकारा जाता था। श्रेष्ठि अपने व्यापार से राजा एवं अपने वर्ग का विकास करता था।[154] कात्यायन ने वाणिकों के समूह को 'पूग' कहा है। (समूहो वाणिजादीना पूगःसंपरिकीर्तितः) । बौद्ध ग्रन्थों मे निगम, श्रेणी, संघ, पूग शब्दों का उल्लेख है। जो शिल्पियों के व्यावसायिक संगठन के बोधक है।

विवेच्य काल में व्यापारिक श्रेणियॉ सुव्यवस्थित हो चुकी थीं। इन्हें समाज में सम्मान प्राप्त था तथा इन्हें अपने मध्य छोटे-मोटे झगड़े निपटाने का भी

१५३- मजूमदार, आर. सी., प्राचीन भारत में संगठित जीवन पृष्ठ-१८।
१५४- महावग्ग, ८/१/१६।

अधिकार प्राप्त था। शिल्पियों में अधिकतर व्यक्ति अपना पैतृक व्यवसाय ही करते थे। उनके नाम पर सड़कों और गलियों के नाम जाने जाते थे जैसे- हाथी दॉत की वस्तुऍ बनाने वालों की गली, धोबियों की गली, बढ़इयों का गॉव, कुम्हारों का गॉव इत्यादि। "एक जातक से ज्ञात होता है कि एक गॉव के एक हजार बढइयों के परिवार उस गॉव को छोड़कर एक द्वीप पर चले गये और वहॉ बस गये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके एक जगह से दूसरी जगह जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था।"[155]

बौद्ध-साहित्य इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि इन श्रेणियों का संगटन लोकतान्त्रिक आधार पर गठित था। बृहस्पति स्मृति से विदित होता है कि श्रेणी-संगठन की एक प्रबंधकारी समीति होती थी जिसमें पॉच या तीन सदस्य होते थे। प्रबंध समीति के सदस्य कार्य निपुण, सत्यनिष्ठ, ज्ञाता, योग्य, उच्चकुल के होते थे।[156]

श्रेणियों का एक कार्यालय भी होता था। जिसमें सदस्यगण एकत्र होकर सामान्य विषयों पर विचार-विर्मश करते थे। श्रेणी विरूद्ध कार्य करने वालों को हटाने का भी प्रावधान था और जो सदस्य स्वेच्छा से सदस्यता छोड़ना चाहते थे वे त्याग-पत्र भी दे सकते थे।

१५५- ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पृष्ठ- १४४।
१५६- बृहस्पति स्मृति, १७/८।

श्रेणियों के कार्य

ये श्रेणियाँ अपने सदस्यों की सुरक्षा तथा शांति के लिए न्यायिक तथा प्रबंधकीय दोनो कार्यों को सम्पादित करतीं थीं। अपने सदस्यों के लिए ये बैंक का भी कार्य करती थीं। श्रेणी विरुद्ध कार्य करने वालों को दण्डित भी करती थीं। श्रेणियां जनकल्याण कारी कार्य भी करती थीं तथा मन्दिरों एवं मठों आदि को दान भी देती थीं।

ये श्रेणियां व्यापारियों तथा व्यवसायियों के कार्य करने के नियम बनाती थीं। तैयार माल की गुणवत्ता तथा उनके मूल्य का निर्धारण करती थीं जिससे शिल्पकारो और उपभोक्ताओं दोनों के हितों की रक्षा हो सके।

विवेच्य काल में श्रेणियों ने धर्म सम्बन्धी अनेक कार्य किये। इन्होंने बौद्ध एवं जैन धर्मावलम्बियों को प्रभूत धनराशि प्रदान की। बृहस्पति स्मृति के अनुसार विश्राम-गृह, पन्थशाला, सभा-गृह आदि विभिन्न प्रकार के जन कल्याणकारी कार्य श्रेणी-संगठनों द्वारा देश के विभिन्न स्थानों पर सम्पन्न कराये जाते थे।[157]

श्रेणियां अपने सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप करती थीं। यहाँ तक की सदस्यों और उनकी पत्नियों के बीच भी कुछ परिस्थितियों में मध्यस्थता कर सकती थीं। डा० रोमिला थापर लिखती है कि ''श्रेणी अपने सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप करती थी

१५७- बृहस्पति स्मृति , १७/११-१२।

यह इस नियम से सिद्ध होता है कि यदि कोई विवाहिता स्त्री भिक्षुणी बनकर बौद्ध संघ में सम्मिलित होना चाहती थी तो उसे न केवल अपने पति से बल्कि उस श्रेणी की भी अनुमति लेनी होती थी जिसका वह (उसका पति) सदस्य है।,,[158]

श्रेणियों की वैधानिक और न्यायिक प्रतिष्ठा निरन्तर बलवती होती गयी। प्रत्येक श्रेणी के अपने पृथक - पृथक नियम होते थे जो उनके संघो के सदस्य द्वारा अनिवार्य रूप से अनुपालित होते थे। श्रेणियों के ऐसे विधानों को गौतम ने समर्थन दिया है।[159] नारद स्मृति के अनुसार श्रेणी को चार प्रकार के सामान्य न्यायालयो में से दूसरा स्थान प्राप्त था।[160]

चूंकि-श्रेणियॉ अपने सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करती थीं इसलिए उनके पास अपनी छोटी-मोटी सेना भी होती थी। बाद के समय में तो इनकी शक्ति और बढ गयी तभी तो मौर्य-कालीन कौटिल्य ने 'श्रेणी-बल' का उल्लेख किया है।[161]

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि विवेच्य काल में श्रेणी एक अत्यधिक सुसंगठित संस्था थी। यह अपने सदस्यों को सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा प्रदान करती थी। समुदाय तथा समाज और देश के लिए कल्याण -

---

१५८ - रोमिल थापर, भारत का इतिहास, बारहवे संस्करण का पेपर बैंक ; पृष्ठ - ६६।
१५६-- गौतम धर्मसूत्र, ११/२०।
१६०-- नारद स्मृति, १/७।
१६१ अर्थशास्त्र, पृष्ठ- ३४०।

-कारी कार्य करती थी। यही कारण रहा कि इन श्रेणियों द्वारा समर्थित बौद्ध एवं जैन-धर्म इन शताब्दियों में उत्कर्ष पर था। इन व्यापारिक श्रेणियों द्वारा परवर्ती काल में अपनी मुद्रा चलाने का भी प्रमाण मिलता है। इलाहाबाद के 'सहजाति' नामक एक प्राचीन टीले की खुदाई से मौर्ययुगीन एक मुद्रा मिली है जिस पर प्राकृत में 'सहिजितियो निगम' उत्कीर्ण है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह मुद्रा सहजाति निगम की थी।

धर्मसूत्रों में उल्लखित पूग शब्द भी प्रायः उपर्युक्तवत् कार्य करने वाला संगठन था। लेकिन श्रेणी तथा पूग में महत्त्वपूर्ण भिन्नता यह थी कि श्रेणी एक प्रकार के शिल्प या व्यवसाय करने वालों का संगठन था जबकि पूग के सदस्य विविध व्यवसाय करने वाले हो सकते थे।

--------::--------

षष्ठ अध्याय

शिक्षा का स्वरूप और विकास

शिक्षा का महत्त्व एवं ज्ञान की प्रतिष्ठा

जीवन और शिक्षा में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। व्यक्ति जीवन भर सीखता है, और उचित सीख के अनुसार अपना जीवन कुशलता से यापित करता है। जहॉ तक ज्ञान का प्रश्न है इसका बहुत ही विस्तृत अर्थ है। सामान्य रूप में इस शब्द का प्रयोग जानने तथा समझने के अर्थ में किया जाता है। इस प्रकार शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान का जनन होता है। वस्तुतः जीवन, शिक्षा तथा ज्ञान परस्पराश्रित है।

भारतीय परम्परा में भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के निर्माण हेतु शिक्षा नितान्त आवश्यक है। मनुष्य तथा उसके समाज का आध्यत्मिक और बौद्धिक उत्थान शिक्षा के द्वारा ही शक्य है। शिक्षा ज्ञान के जनन में सहायक होती है। लौकिक जीवन को व्यवस्थित करने तथा पारलौकिक जीवन से तादात्म्य स्थापित करते हुए मुक्त हो, आनन्द में लीन होने के लिए शिक्षा एकमात्र साधन है।

शिक्षा से मनुष्य का जीवन समृद्ध और उन्नत होता है, व्यक्ति जीवन को अनुशासित रखते हुए सामाजिक कत्तव्यों एवं दायित्व का निर्वाह शिक्षित होकर ही करता है। वह जितना ही शिक्षित होगा उसकी बुद्धि और प्रज्ञा उतनी ही अधिक प्रांजल होगी। शिक्षा व्यक्ति का पथ-प्रर्दशन कर उसे पथ-भष्ट्र होने से बचाती है इसीलिए इसे मनुष्य का

तृतीय नेत्र कहा गया है।[1] ज्ञान के माध्यम से ही व्यक्ति अपने; अपने कुल तथा समाज की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है। जो व्यक्ति विद्याविहीन होता है वह पशु माना जाता है। शिक्षा के अनन्त महत्त्व को सीमा में बॉधना बहुत ही क्लिष्ट है तथापि इसके किंचित महत्तव को निम्न पंक्तियो में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया जा रहा है-

(१) धार्मिक वृत्तियों का उत्थान

भारतीय चिन्तकों ने यह माना है कि धार्मिक अभ्युन्नित के बिना व्यक्ति का उत्कर्ष नहीं माना जा सकता। और यह धार्मिक उन्नति शिक्षा द्वारा सहज ही प्राप्य है। विद्यार्थीयों के जीवन मे भक्ति, धर्म, शुद्धता और पवित्रता की भावना का आरोपण शिक्षा के माध्यम से निरन्तर होंता रहता है।

(२) चारित्रिक उत्थान

शिक्षा व्यक्ति के चरित्र को दृढ़ बनाती है। व्यक्ति की चारित्रिक उन्नति इस लोक को स्वर्गतुल्य बनाने के लिए परमावश्यक है। शिक्षा व्यक्ति को अनुशासित बना कर उसे सामाजिक उन्नति के लिए सर्मथ बनाती है।

१- ज्ञान तृतीयं मनुजस्य नेत्रं
समस्ततत्त्वार्थ विलोकिदक्षम्।
तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरायं
प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेपि।।
सुभाषितरत्नसंदोह पृष्ठ- १६४

(३) आत्मविश्वास का विकास

जीवन में क्या करना है तथा क्या नहीं करना है, क्या उचित है तथा क्या अनुचित है इसका ज्ञान व्यक्ति गुरु के सान्निध्य में रह कर जानता है। इस प्रकार उचितानुचित विवेक की क्षमता प्राप्त होने से उसमें आत्मविश्वास भर जाता है। यह आत्मविश्वास उसमें संकटमय जीवन को अपने अनुकूल बनाने की क्षमता प्रदान करता है।

(४) शिक्षा व्यक्ति का सामाजीकरण करती है शिक्षित व्यक्ति अपने समाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति सजग रहता है। प्राचीनकाल से ही शिक्षा का मूलमन्त्र रहा है ''सत्यमवद। धर्मम चर।'' अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को सत्य बोलना चाहिए तथा धर्मवत् आचरण करना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा व्यक्ति में समाजिक अपेक्षाओं के अनुसार आचरण करने की क्षमता विकसित कर एक सुव्यवस्थित, लक्ष्योन्मुखी और प्रगतिशील समाज का निर्माण करती है।

(५) शिक्षा समाज में संस्कृतिक उत्थान में सहायिका होती है। व्यक्ति अपनी परम्परा और संस्कृति से जन्म के साथ से ही परिचित होना आरम्भ करता है। वह विविध शिक्षकों-औपचारिक तथा अनौपचारिक के द्वारा जीवन मूल्यों तथा पारम्परिक शिक्षाओं से शिक्षित होता है। चाहे अनौपचारिक शिक्षा हो या औपचारिक शिक्षा व्यक्ति इसके द्वारा अपनी संस्कृति से परिचित होता है। अपनी संस्कृति का रक्षण व्यक्ति उससे शिक्षित होने के बाद ही करता है। वस्तुतः शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में

जीवन्त रहती है। अपनी संतति को शिक्षा द्वारा ही शिक्षित करना और प्राचीन संस्कृति की ओर प्रवृत्त करना सम्भव है। सांस्कृतिक-जीवन के उत्थान में, परम्पराओं के प्रचार तथा सांस्कृतिक संशोधन और परिवर्द्धन में शिक्षा की भूमिका अत्याज्य है।

वस्तुतः शिक्षा और तत्प्रसूत अथवा तत्पोषित ज्ञान व्यक्ति के इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों जीवनों को पूर्णता प्रदान करते हैं। समग्र दृष्टि विकसित करने तथा समग्र अभ्युन्नति के लिए ज्ञान अति आवश्यक तत्त्व है। शायद यही कारण है कि श्रीमद्भगवद गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।[2]

अर्थात इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोग के द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने आप ही आत्मा में प्राप्त कर लेता है। ज्ञान प्राप्त व्यक्ति ही भगवत्प्राप्ति तथा परमशान्ति प्राप्ति का अधिकारी होता है। स्पष्ट है कि शिक्षा तथा ज्ञान का महत्त्व वर्णनातीत है।

प्रारम्भिक शिक्षा में लेखन-उपकरण

लेखन कार्य में लिपि, उसको उत्कीर्ण करने के साधन तथा उत्कीर्ण किये जाने वाले स्थल की

२- श्रीमद्भगवद्गीता ४/३८

आवश्यकता होती है। प्रारम्भिक काल में शिक्षा मौखिक थी। यही कारण है कि वैदिक साहित्य श्रुति-साहित्य के रूप मे जाना जाता है। परन्तु उसके पश्चात् लेखन-उपकरण का उपयोग किया जाने लगा जिसमें लेखनी के रूप में पंखों तथा बाद में सरकण्डों का प्रयोग किया जाने लगा। लिखनें के लिए भोज-पत्र तथा कमल-पत्र का प्रयोग किया जाने लगा। कालान्तर में लकड़ी की घट्टी तथा ताम्र-पत्रों का प्रयोग किया जाने लगा। छात्रों के पढ़ने तथा उन्हें पढ़ाने के लिए काली पटरी और खड़ियां का प्रयोग किया जाने लगा था जो न्यूनाधिक रूप से आज भी प्रयोग में है। अल्बरूनी लिखता है कि भारतीय बालको के लिए विद्यालयों में काली तख्ती प्रयोग में लाते थे। और उस पर बांये से दाऐ सफेद वस्तु से लिखते थे।[3] स्पष्ट है कि विवेच्य काल में छात्रों के पठन-पाठन हेतु देवनागरी लिपि तथा खड़िया (दूधिया) और श्यामपट का प्रयोग पर्याप्त रूप में किया जाता था।

बुद्ध तथा महावीर जैन की शिक्षा

गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने ईसा पूर्व छठी शताब्दी में एक सरल तथा कर्मकाण्ड और पाखण्ड विरोधी शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। इन धार्मिक सम्प्रदायों ने पुरातन वैदिक-ब्राहमण धर्म के अनेक दोषों पर प्रहार किया। उन्होनें यज्ञों में होने वाले पशु-वध की निन्दा की। अच्छे आचरण द्वारा किसी भी वर्ण तथा जाति के

३- ग्यारहवी सदी का भारत पृष्ठ - १६८।

लौकिक तथा पारलौकिक उन्नयन को स्वीकारा। बुद्ध के अनुसार जन्म से कोई ब्राह्मण या अब्राह्मण नहीं होता बल्कि कर्म से ही जाति का निर्धारण होता है। जो ज्ञान तथा नैतिकता से परिपूर्ण होता है वही श्रेष्ठ होता है।

जैन-धर्म के अनुसार संसार दुःखमूलक माना गया है। व्यक्ति अपने कर्मो के अनुसार भोगों का भोगता है। उसका कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है कर्म-फल ही जन्म तथा मृत्यु का कारण है। सांसारिक तृष्णा के बन्धन से मुक्ति को निर्वाण कहा गया है और यही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए। व्यक्ति को अपने शुभ-कर्म द्वारा अपना भविष्य कल्याणमय बनाना चाहिए। परन्तु पूर्ण मुक्ति कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने के पश्चात् ही सम्भव है। इसके लिए उसे दो कार्य करने पड़ते हैं। पहला सम्यक् दर्शन, ज्ञान तथा सम्यक आचरण का अनुशीलन करना तथा दूसरा शरीर को क्लेश देते हुए पूर्व जन्म के संचित कर्म को समाप्त करना। महावीर स्वामी ने आचरणीय पंच महाव्रतों की शिक्षा दी है। वे हैं - अहिंसा, सत्य वचन, अस्तेय, ब्रहमचर्य तथा अपरिग्रह। गौतम-बुद्ध ने भी आचरण की पवित्रता तथा सम्यक व्यदहार पर बल दिया। बुद्ध ने बताया कि संसार दुःखमय है, इस दुःख के होने के कारण हैं (दुःख-समुदाय) तथा इस दुःख से छुटकारा पाना (दुःख-निरोध) सम्भव है। उन्होने कहा 'सब्बम् दुखम'। इस दुःख से छुटकारा पाने के लिए उन्होने अष्टांगिक-मार्ग की शिक्षा दी। ये मार्ग हैं- (१) सम्यक्-दृष्टि अर्थात सत्य और असत्य तथा सदाचार और

दुराचार के विवेक द्वारा चार आर्य सत्यों की सही परख, (२) सम्यक् संकल्प अथवा इच्छा तथा हिंसा से रहित संकल्प करना। (३) सम्यक् वाणी जिसका तात्पर्य हैं सदा सत्य तथा मृदुवाणी का प्रयोग करना, जो धर्मसम्मत हो। (४) सम्यक् कर्म या अच्छे कर्मो में संलग्न होना। (५) सम्यक् आजीव अर्थात विशुद्व रूप से सदाचार पालन करके जीवन व्यतीत करना। (६) सम्यक् व्यायाम अर्थात विवेकपूर्ण प्रयत्न। (७) सम्यक् स्मृति अर्थात अपने कर्मो के प्रति विवेक तथा सावधानी को निरंतन स्मरण रखना। (८) सम्यक् समाधि अथवा चित्त की समुचित एकाग्रता।

बौद्ध शिक्षा का मुख्य उदेद्श्य था विद्यार्थी को धर्म एवं नियम की आवश्यक बातें समझाना जिससे वह भली-भांति समझ सके कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। जातकों से भी शिक्षा के उद्देश्यों के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है। एक जातक में लिखा है कि राजा लोग अपने पुत्रों को दूर की शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ने इसलिए भेजते थे कि उनमें अभिजात-कुल में जन्म होने के कारण जो अहंकार होता है वह दूर हो जाये। वे गर्मी और सर्दी को सहन कर सकें और लोक-व्यवहार से परिचित हो सकें।[4]

बौद्ध-शिक्षा व्यवस्था

बौद्ध-शिक्षा व्यवस्था में विहारों में

४- ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, विश्व-प्रकाशन,चतुर्थ संस्करण , पृष्ठ- २४६।

शिक्षा दी जाती थी। बौद्ध-भिक्षु शिक्षक की भूमिका का निर्वहन करता था। भिक्षु कृषि-कार्य और पशुपालन भी करते थे तथा शिक्षक का कार्य भी करते थे। प्रत्येक भिक्षु को स्वाध्याय और मनन तथा अनुशासित जीवन बिताने की शिक्षा दी जाती थी। एक प्रकार के अनुशासन में रहने के कारण उनमें प्रजातांत्रिक तथा 'हम' की भावना विकसित होती थी। जातकों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पाठ्य-विषयों में शकुन-विद्या, इन्द्रजाल, धनुर्विधा, विज्ञान तथा विविध शिल्पों का समावेश था। महावग्ग में शिक्षा देने वाले दो प्रकार के अध्यापकों का उल्लेख है- उपाध्याय और आचार्य।[5] बुद्धघोष की टीका के अनुसार उपाध्याय वे अध्यापक कहलाते थे जो दस वर्ष या इससे अधिक काल से भिक्षु रहे हों। आचार्य उन्हें कहते थे जो छः वर्ष से अधिक काल तक भिक्षु रहे हों। आचार्य शिष्यों के आचरण पर विशेष बल देते थे तथा उन्हें जीवन मूल्यों और नैतिकता का पाठ पढ़ाते थे। उपाध्याय विद्यार्थियों को धर्म-ग्रन्थ पढ़ाते थे।

उपनयन संस्कार तथा गुरुकुल शिक्षा

उपनयन-संस्कार पठान-पाठन के आरम्भ की पहली सीढ़ी है। इसका अर्थ होता है समीप (उप) ले जाना (नयन करना)। अर्थात बालक को गुरु के समीप ले जाना। परन्तु यह संस्कार केवल तीन वर्णो के लिए ही विहित है। शूद्र इससे वंचित हैं। उपनयन संस्कार के पश्चात् व्यक्ति

५- महावग्ग- ५/४/२।

ब्रहमचारी बनता है। ये ब्रहमचारी ही विद्यार्थी जीवन में प्रविष्ट हो ज्ञान प्राप्ति के अधिकारी होते थे। उपनयन संस्कार के विषय में अथर्ववेद,[6] तथा शतपथ ब्राह्मण[7] में विस्तार से चर्चा की गयी है। आचार्य शिष्य के सिर पर अपना दाहिना हाथ रखता था, तथा उससे गर्भवान् हो जाता था। तीन रात्रियों के बाद आचार्य के गर्भ से शिष्य बाहर हुआ माना जाता था। यही कारण था कि उपनयन संस्कार प्राप्त व्यक्ति द्विज अर्थात् दो बार जन्म लेने वाला माना जाता था। प्रथम जन्म माता-पिता द्वारा उसके स्थूल शरीर का जनन था जबकि दूसरा जन्म उसे गुरु के द्वारा आत्मज्ञान प्रदान करके दिया जाता था। कालान्तर में द्विज शब्द तीन वर्णो-ब्राहमण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए ही प्रयुक्त होने लगा। इससे स्पष्ट होता है कि शूद्रों को उपनयन संस्कार से संस्कृत होने और गुरूकुल में शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नही था। ऐसा इसलिए क्योंकि यह संस्कार पूर्णतः शिक्षा से सम्बन्धित था और बालक की शिक्षा इसके पश्चात् गुरु के सान्निध्य में आरम्भ होती थी। प्रायः तीन वर्णो के बालक अपने कुटुम्ब से दूर यज्ञोपवीत धारण कर गुरुकुल में रखकर शिक्षा प्राप्त करते थे।

गुरुकुल शिक्षा के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि किसी भी वंश या कुल का सम्बन्धित बालक

६- आचार्यः उपनयमानो ब्रहमचारिणम् कृणुते गर्भमन्तः। आचार्यः अन्तःविद्यया शरीरस्य मध्ये गर्भ कृणुते (सायण) अर्थववेद ११/५/३।
७- शतपथ ब्राहमण, ११/५/४।

क्यों न हो उसे सबके साथ रहते हुए, गुरुकुल के नियमों का पालन करते हुए, अनुशासित जीवन व्यतीत करना पड़ता था। छान्दोग्य उपनिषेद के अनुसार श्वेतकेतु नामक बालक अपने गुरु के यहॉ बारह वर्ष बीता कर घर वापस लौटा।[8] उसे उसके पिता उद्दालक व्यतीत ने गुरुकुल में जाकर शिक्षा प्राप्त करने के लिए कहा था। इस उपनिषद के अनुसार वह बारह वर्ष की अवस्था में गुरु के पास गया और वेदाध्ययन कर चौबीस वर्ष की अवस्था में घर वापस आया। इसी प्रकार उपकोशलकामलायन भी अपने गुरु सत्यकाम-जाबाल के घर में बारह वर्ष तक रहकर ब्रहमचारी के रुप में अग्न्याधान करता रहा।[9] कभी-कभी विद्यार्थी इससे भी अधिक समय तक अपने गुरु के यहॉ रहते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख आता है कि नामानैदिष्ट ने गुरू के यहॉ ब्रहमचारी के रूप में इतना समय बिताया कि उसके पिता ने इस बीच में अपनी सम्पत्ति अन्य पुत्रों में बॉट दी।[10] छान्दोग्यउपनिष में बत्तीस वर्ष तथा एक सौ एक वर्ष तक ब्रहमचारी रहने की बात कही गयी है। वस्तुतः कुछ शिष्य नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए यावत् जीवन गुरुकुल में ही रहते थे लेकिन शेष चाहे बारह वर्ष तक अध्ययन करते हों या बत्तीस वर्ष तक या उससे कुछ अधिक स्नातक होने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो जाते थे। बोद्यायन धर्म सूत्र में कहा

८- छान्दोग्यउपनिषद ६/१/२।
६- छान्दोग्यउपनिषद ४/१०/१।
१०- ऐतरेय ब्राहमण, २२/६।

गया है कि जब तक बाल काले रहें तभी तक अध्ययन करके गृहस्थाश्रम में आ जाना चाहिए।[11] इस सम्बन्ध में आधुनिक इतिहासकारों द्वारा किये गये अध्ययनों से भी स्पष्ट होता है कि एक बच्चा उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने जाता था। और प्रायः चौबीस या पच्चीस वर्ष की अवस्था में गुरुकुल से समावर्तन संस्कार के पश्चात् घर आकर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता था।

डा. अल्टेकर ने शिक्षा की अवधि के विषय में लिखा है कि प्रायः दस वर्ष की अवस्था में उपनयन के साथ विद्या का प्रारम्भ होता था। जो प्रायः बारह वर्ष में समाप्त होती थी। यह सिद्ध करने के लिए निश्चित प्रमाण है कि प्राचीन भारत में वैदिक साहित्य का अध्ययन इस अवधि में समाप्त हो जाता था। ईसा की सातवीं शताब्दी में व्याकरण के पूर्ण ज्ञान के लिए दस वर्ष का समय आवश्यक समझा जाता था। किन्तु साहित्य व धर्मशास्त्र के विद्यार्थी ५-६ वर्ष में व्याकरण की पढ़ाई समाप्त कर अपने विषय के अध्ययन में दस वर्ष लगाते रहे होगें। इस प्रकार सुसंस्कृत शिक्षित कहलाने के लिए प्राचीन भारत में ८ या ६ वर्ष की आयु में उपनयन होने के अनन्तर विद्यार्थीयो को १५-१६ साल तक अध्ययन करना पड़ता था और प्रायः चौबीस वर्ष की आयु में

११- बोद्यायन धर्म सूत्र १/२/३।

वह अपने विषय का पूर्ण पण्डित हो जाता था। विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए यह उम्र आर्दश मानी जाती थी।[12]

आचार्य का स्थान एवं उसके प्रकार (आचार्य,उपाध्याय,प्रवक्ता,श्रोत्रिय,गुरु आदि)

आचार्य शब्द 'आ' पूर्वक 'चूर' धातु से 'व्यत्' प्रत्यय करके बना है। इसका अर्थ होता है शिक्षा प्रदान करने वाला गुरु। गुरु अथवा आचार्य एक गरिमामय पद होता था। सम्यक् आचरण करने वाला श्रेष्ठ व्यक्ति ही गुरु पद के लिए मान्य होता था। ऋग्वेद में इन्द्र और अग्नि जैसे देवताओं को आचार्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जो विश्ववेदा अर्थात् सर्वज्ञ तथा सत्यंमन्या अर्थात् सत्य जानने वाले के रूप में विश्रुत थे। वस्तुतः ऋग्वेद कालीन आचार्य दिव्य ज्ञान के प्रतीक थे। ये केवल अपने को पठन-पाठन तक ही सीमित न रख कर समाज के पथ-प्रर्दशक के रूप में भी कार्य करते थे। ऐसा माना जाता है कि गुरु ज्ञान की शलाका से मोहाच्छन्न शिष्य के नेत्रों को खोलता है। वह उसे अन्धकार से प्रकाश की तरफ ले जाता है। तात्पर्य यह है कि गुरु अपनी शिक्षा से शिष्य की अन्तर्दृष्टि को विकसित कर उसमें ज्ञान तथा विवेक का संचार करता है। गुरु को साक्षात् देवता माना गया है गुरु के महनीय पद के विषय में सर्वमान्य कथन है कि -

---

१२- अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्वति, पृष्ठ- ७०-७०।

गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु,
गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म,
तस्मै श्री गुरवे नमः।।[13]

इससे स्पष्ट है कि गुरु का समाज में स्थान बहुत ही उच्च होता है। विवेच्य काल में बौद्ध-धर्म तथा वैदिक-धर्म-दोनों अपनी-अपनी शिक्षाओं का प्रचार कर रहे थे। दोनों ने आचार्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया था। गुरु शिष्य में गम्भीरता तथा अहंकार रहितता को कूट-कूट कर भरता था। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार अपने द्वारा निर्वाह किये जाने वाले कर्तव्यो का निर्वहन तो करना चाहिए; लेकिन ऐसा करके प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

देवपितृकार्याभ्याम् न प्रमदितव्यं।। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। अथितिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्मांक सुचरितानि, तानि तान्योपास्यानि, नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वायाऽसनेन प्रश्वसितव्यं।

अर्थात् देवों और अपने पितरों का स्मरण रखो। अपने गुरु का देव के समान सम्मान करो। अपने अतिथियों का सम्मान करो। उन्हें ऐसी दृष्टि से देखो, जैसे कि भगवान् ही तुम्हारी सेवा प्राप्त करने के लिए आया है। ईश्वर करे,

---

१३- 'आचार्य देवो भव' तै० उ० १/११।

तुम सदैव अपनी विवेक बुद्धि का उपयोग करो और निर्दोष का सदैव आचरण करो। तुम्हारे गुरु के जीवन में जो कुछ अच्छा हो उसका अनुसरण करो, अन्य कुछ का नहीं। तुम अपने जिन गुरुओं के साथ रहे हो उनसे भी अच्छे पुरूषों से तुम्हारी भेंट होगी। उनका उचित आदर करना।

बौद्ध-ग्रन्थों में भी आचार्य का उल्लेख मिलता है। 'महावग्ग में दो प्रकार के अध्यापकों का उल्लेख है। 'उपाध्याय' और 'आचार्य' बुद्धघोष की टीका के अनुसार उपाध्याय वे अध्यापक कहलाते थे जो दस वर्ष या उससे अधिक काल से भिक्षु रहे हों और आचार्य वे जो छः वर्ष से अधिक भिक्षु रहे हों।[14] परन्तु वैदिक परम्परा में आचार्य सबसे उच्च गुरु माना गया है। मनु, गौतम, विष्णु और वशिष्ठ आदि ने भी कल्प और रहस्यों के साथ वेदों की शिक्षा देने वाले को आचार्य कहा है।[15] तत्कालीन साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि आचार्य का स्थान समाज में गौरवशाली तथा भगवत् तुल्य था। गुरुकुलों में आचार्य अपने द्वारा निर्धारित नियमों से बँध कर तथा पूर्ण अनुशासन के साथ शिष्यों को शिक्षा देते थे। यह इस तथ्य का परिचायक है कि आचार्यों का स्थान समाज में राजाओं से ऊपर था। स्वयं

१४-ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एंव आर्थिक इतिहास, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ- २४८।

१५- मनुस्मृति - २/१४०, तदयस्मात स आचार्य १/१/११ । वेदानुवचनाच्च- गौतम १/११/१२, वेदमध्यापयते स आचार्य : वशिष्ठ ३/२४।

बुद्ध अपनी शिक्षा का प्रचार करने वाले प्रधान गुरु थे जिन्हें उनके शिष्य भगवान् मानते थे। प्रायः आचार्य उपाध्याय तथा गुरु आदि शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के पर्याय के रूप में किया जाता है। किन्तु प्राचीन लेखकों ने इनमें भी अन्तर किया है-

आचार्य

उत्तम कुलोद्भव पवित्र तथा अनालस्य से युक्त गुरु आचार्य कहलाता था। इसे आचार्य कहे जाने का कारण यह था कि वह शिष्यों को 'आचार' सम्बन्धी शिक्षा देता था।[16] व्यास के विचार में आचार्य वह था जिसमें वेदों के प्रति उत्सर्ग की भावना हो, उत्तम परिवार का हो, श्रोत्रिय हो, पवित्र हो, वैदिक शाखा का अध्ययन किया हो तथा जो आलसी ना हो।

वैदिकनिष्ठं धर्मज्ञं कुलीनं श्रोत्रियं शुचिम्।
स्वशाखाज्ञमनालस्यं विप्रं कर्तारमीप्सितम् ।।

उपाध्याय

वह गुरु जो शिष्यों को शिक्षा दे तथा उनसे बदले मे द्रव्य प्राप्त कर अपनी जीविका चलाये वह 'उपाध्याय' कहलाता है। मनु ने लिखा है कि वेद के एक अंश को तथा वेदांगों को जीविका के लिए पढ़ाता था वह 'उपाध्याय' कहा जाता था।

१६- आचार्यः कस्मात् आचार्यः आचारं ग्राहयति । निरूक्त १/४ ।

एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः।

यो अध्यापयति वृत्यर्थमुध्यायः स उच्यते।[17]

इस प्रकार उपाध्याय का स्थान आचार्य से अवर कोटि का माना जाता था क्योंकि शास्त्रीय परम्परा में अर्थ की महत्ता कम थी बल्कि शिष्य की योग्यता तथा सदाचार अधिक महत्त्वपूर्ण था। इसके विपरीत बौद्ध धर्म में उपाध्याय आचार्य से उच्च कोटि के माने जाते थे; क्योंकि जो कम से कम दस वर्ष तक भिक्षु रहे हों वही आचार्य बन सकते थे। जबकि आचार्य होने के लिए केवल छः वर्ष ही भिक्षु रहना अनिवार्य था।

प्रवक्ता

शाखा ग्रन्थ, ब्राह्मण और श्रोत्र-सूत्र का ज्ञाता तथा शिक्षा देने वाला 'प्रवक्ता' कहा जाता था। वस्तुतः यह शब्द 'प्र' पूर्वक 'वच्' धातु से 'तृच्' प्रत्यय कर निष्पन्न हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है वर्णन करने वाला, प्रकृष्ट वक्ता अथवा उद्घोषक। इस प्रकार वे शिक्षक जो व्याख्यान शैली में धारा प्रवाह बोलते हुए शिक्षा देते थे वे व्याख्याता अथवा प्रवक्ता कहे जाते थे।

श्रोत्रिय

वह अध्यापक जो वेद की शाखाओं को कठंस्थ करके छात्रों को शिक्षा देता था वह 'श्रोत्रिय' कहलाता था। यह वेद में प्रवीण होता था। तथा इसका स्थान

१७- मुनुस्मृति २/१४१।

समाज में गौरवशाली था क्योंकि इसे सारे वेद कंठस्थ होते थे। कालिदास तथा मातंगलीलाकार ने इसकी बहुशः चर्चा की है। मातंगलीला के अनुसार

> जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः
> संस्कारैर्द्विज उच्यते।
> विद्यया याति विप्रत्वं
> त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।।[18]

गुरु

इसका शाब्दिक अर्थ 'भारी' तथा 'श्रेष्ठ' है। इस अर्थ में कोई भी श्रद्धेय या आदरणीय वृद्ध पुरुष या स्त्री भी गुरु शब्द से अभिहित किये जा सकते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चौथे अंक में कण्व ऋषि शकुन्तला को उसकी विदाई के अवसर पर शिक्षा देते हुए कहते हैं-

"शुश्रूषस्व गुरुन्" अर्थात् अपने से बड़ों की सेवा करना। वस्तुतः जो गृहस्थ जीवन बिताते हुए भी शिक्षण कार्य में लगे हुए थे वे गुरु कहलाते थे। पिता भी गुरु की श्रेणी में गृहीत था। मनु के अनुसार जो गर्भाधान आदि संस्कारों को करता था और अन्नादि के द्वारा अपने परिवार का भरण-पोषण करता था। वह गुरु कहलाता था।[19] उपर्युक्त के अतिरिक्त ऋत्विक्, चरक तथा अध्यापक आदि शब्दों का प्रयोग भी शिक्षा देने वाले के अर्थ में यत्र-तत्र मिलता है। इसमें 'ऋत्विक्' वे शिक्षक थे जो विधिवत्

१८- मातंगलीला १/५।

१९- निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।।
मनुस्मृति, २/१४२।

यजन-याजन में में लगे रहते थे। 'चरक' वे शिक्षक थे जो यायावर का जीवन बिताते हुए शिक्षा देते थे। वे देश में भ्रमण करके ज्ञान का प्रचार करते थे। उपनिषत्-काल में उद्दालक आरुणि ऐसे ही 'चरक' शिक्षक थे। विवेच्य काल में कुछ ऐसे भी शिक्षक थे जो विज्ञान तथा लौकिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी ही विद्याओं की शिक्षा देते थे। इन्हीं वैज्ञानिक तथा लौकिक साहित्य का शिक्षण देने वाला शिक्षक 'अध्यापक' कहलाता था। इन सारे शिक्षकों को सामान्य जनभाषा में गुरु कहा जाता था। फिर चाहे वे आचार्य हों या कुटुम्ब के वयोवृद्ध अथवा गुरुकुल के अन्तेवासी नौष्ठिक ब्रह्मचारी ।

आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध

आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध अत्यधिक स्नेहयुक्त, पवित्र और उदात्त होता था। आचार्य शिष्य को समाज के नियमों, जीवन मूल्यों और आध्यात्मिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी बहुमुखी ज्ञान से परिचित कराता था। शिष्य भी आचार्य द्वारा बताये गये नियमों से बद्ध होकर ज्ञान प्राप्त करते थे। गुरु तथा शिष्य दोनों के मध्य पिता-पुत्र जैसा सम्बन्ध होता था। मनुस्मृतिकार ने लिखा है कि विद्या ने ब्राह्मण के पास आकर कहा कि मैं तुम्हारा कोष हूँ। मेरी रक्षा करो। मेरी निन्दा करने वालों के लिए मुझे मत दो। जिसे तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो उसे मुझे पढ़ाओ।[20]

२०- मनुस्मृति, २/११४ - ११५।

सम्भवतः यही कारण था कि आचार्य उन्हें ही शिष्यत्व प्रदान करते थे जो उनसे इस हेतु विधिवत् अभ्यर्थना करते थे। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार विद्यार्थी आचार्य से यह कहता था कि मै आपके पास आया हूँ। उपेमि अहम् भवन्तम्।[21] शतपथ ब्राह्मण[22] के अनुसार शिष्य को कहना पड़ता था कि 'क्या मै ब्रह्मचर्य में प्रवेश कर सकता हूँ' तथा यह भी कि 'मुझे ब्रह्मचारी बना दीजिए।' ब्रह्मचारी को स्वीकार करने के पूर्व गुरु उससे उसके कुल तथा जन्म के विषय में प्रश्न करता था। सत्यकाम जाबाल अपने गुरु गौतम हारिद्रुमत के पास शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से गये और उनसे विनयपूर्वक कहा कि " मैं आपके सान्निध्य में ब्रह्मचारी बनना चाहता हूँ। क्या मै आपके पास आ सकता हूँ ?" गुरु ने उनसे पूछा कि "तुम किस कुल के हो ?" सत्यकाम जाबाल ने अपने जन्म के विषय में सही-सही सूचना गुरु को दी और यह सूचित किया कि वह अज्ञात कुल गोत्र का है। गुरु हारिद्रुमत उसके उत्तर से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होनें कहा कि "सच्चे ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई ऐसी सच्ची बात नहीं कह सकता" और आज्ञा दी कि "जाओ सौम्य समिधा ले आओ मैं तुम्हें उपनीत करूँगा, क्योंकि तुम सत्य से भ्रष्ट नहीं हुए हो।"[23] शतपथ ब्राह्मण में गुरु द्वारा केवल शिष्य के नाम पूछे जाने का ही उल्लेख है।

२१- बृहदारण्यक उपनिषद, ६/२/७।
२२- शतपथ ब्राह्मण, ११/५/४।
२३- छान्दोग्योपनिषद्, ४/४/४- ५ ।

छान्दोग्योपनिषद का उपर्युक्त विवरण यह प्रमाणित करता है कि गुरु, शिष्य की सत्यनिष्ठा और नैतिकता को उसके अज्ञात कुल गोत्र के ऊपर वरीयता देता था। गुरु और शिष्य के मध्य आत्मीय सम्बन्ध होते हुए भी उनके मध्य जब विचार-विमर्श होता था तो पूर्वाग्रह से रहित होकर प्रश्न करने एवं एक दूसरे की बात को निश्छल भाव से स्वीकार करने की परम्परा थी। सम्पूर्ण आरण्यक और उपनिषद् इसके प्रमाण हैं।

शिष्य गुरु के लिए तथा अपने लिए भिक्षाटन करता था जिससे उनका भरण-पोषण होता था। शिष्य जब समावर्तन संस्कार के पश्चात् गुरु के अन्तेवासित्व को छोड़कर जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था तो यथाशक्ति गुरुदक्षिणा देता था जिसे 'गुर्वर्थ' कहते थे।[24]

गुरु और शिष्य दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को 'पाणिनी' के 'अष्टाध्यायी में एक दूसरे के रक्षक के रूप में व्यक्त किया गया है। एक सूत्र के अनुसार गुरु और शिष्य दोनों एक दूसरे की परस्पर छाता के समान रक्षा करते थे।[25]

बौद्ध भिक्षु अपने धर्म में प्रविष्ट होने वाले शिष्यों को सामूहिक शिक्षा प्रदान करते थे। बौद्ध शिक्षा व्यवस्था में बौद्ध-भिक्षु अपने बिहारों में विद्यार्थियों को शिक्षा

२४-- गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये , कालिदास, रघुवंश ५/७
२५-- अष्टाध्यायी ४/४/६२।

देते थे। शिक्षक-भिक्षु स्वयं कृषि करते थे तथा पशुपालन करते थे। इन्हें पर्याप्त मात्रा में दान भी मिलता था। अतः इन्हें भोजन के लिए भिक्षा माँगने की कोई आवश्यकता नहीं थी । बौद्ध-शिक्षा व्यवस्था की सर्वप्रमुख विशेषता यह थी कि इन्हें आचरण की पवित्रता के साथ-साथ लोकतान्त्रिक व्यवस्था में शिक्षित होने का अवसर प्राप्त होता था। लगभग चौथी शताब्दी ईसापूर्व में बौद्ध भिक्षुओं की शिक्षा के लिए एक पद्धति विकसित की गयी जिसे 'निस्सय पद्धति' कहते थे। "जो नव दीक्षित व्यक्ति विद्वान् होता था उसे केवल पाँच वर्ष तक निस्सय में रहना पड़ता था जबकि साधारण व्यक्ति आजीवन निस्सय में रहता था।"[26] जो भी हो वह चाहे वैदिक परम्परा हो या फिर चाहे श्रमण परम्परा, गुरु और शिष्य का सम्बन्ध अत्यधिक पवित्र, पूर्वाग्रहों से रहित, किसी भी प्रकार के वाह्य नियन्त्रण से रहित पिता-पुत्र के सदृश था।

शिक्षा के प्रमुख केन्द्र

वस्तुतः भारतीय परम्परागत शिक्षा व्यवस्था में गुरु का घर ही शिक्षणशाला के रूप में प्रयुक्त होता था। विद्यार्थी आचार्य के परिवार के सदस्य के रूप में रहकर शिक्षा प्राप्त करता था। विद्यार्थियों को गुरु के पूर्ण अनुशासन में रहकर अध्ययन करना पड़ता था। बौद्ध शिक्षण-पद्धति में विहार और मठ शिक्षा के केन्द्र के रूप में

२६- ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ- २४६।

विकसित हुए। बौद्ध भिक्षु जहाँ रहते थे, वहाँ अन्य नवीन भिक्षुओं को शिक्षित करते थे; लेकिन परम्परागत गुरु-गृह तथा बौद्ध-भिक्षु शरण-स्थल के अतिरिक्त नियमित शिक्षा प्रदान करने के लिए शिक्षा-केन्द्र भी अस्तित्व में थे; जो वाराणसी तथा आस-पास के अनेकों व्यक्तिगत ब्राह्मण विद्वानों के घरों में चलने वाली पाठशालाओं के अतिरिक्त थे। इनमें से कतिपय प्रमुख केन्द्रों का विवरण निम्नवत् है-

काशी

यह अति प्राचीन काल से ही शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। यहाँ पर ब्राह्मण धर्म, बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्मो से सम्बन्धित अनेक विहार और मठ रहे हैं जहाँ पर छात्र को निःशुल्क शिक्षा के साथ-साथ भोजन और आवास की सुविधा प्रदान की जाती थी। वाराणसी के एक शिक्षा केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध होने का उल्लेख जातकों में मिलता है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० अनन्त सदाशिव अल्टेकर ने लिखा है कि जातकों से ज्ञात होता है कि काशी के यशस्वी आचार्य तीनों वेदों तथा अट्ठारहों शिल्पों का अध्ययन करते थे। अंकित जातक से पता चलता है कि सोलह वर्ष की आयु वाले विद्यार्थी काशी में अध्ययन के लिए उमड़ पड़ते थे। जातकों में वाराणसी के राजाओं द्वारा तक्षशिला में शिक्षा ग्रहण करने के लिए अपने राजकुमारों को भेजने के उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि काशी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था तथापि किसी अभिलेख में काशी के किसी राजा द्वारा किसी मन्दिर या मठ को शिक्षा के लिए प्रदान किये जाने वाले अनुदान का

सीधा उल्लेख नहीं मिलता है। डा० अल्टेकर लिखते हैं कि "हमें इस काल का कोई ऐसा उत्कीर्ण लेख भी नहीं प्राप्त होता है जिसमें यह उल्लेख आया हो कि अमुक राजा ने अमुक काशी की अमुक शिक्षण-संस्था में इतना दान दिया। यद्यपि पड़ोस में ही नालन्दा मे इतना बड़ा विश्व-विद्यालय था तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू काशी ने उसकी देखा-देखी भी किसी सार्वजनिक शिक्षण-संस्था को जन्म नहीं दिया।"[27] इतना सब होने के बावजूद काशी ईसा पूर्व छठी शताब्दी के धार्मिक क्रान्ति के समय एक महत्त्वपूर्ण शिक्षण नगरी के रूप में अपनी पहचान बनाये हुए थी। वैदिक-दर्शन, ज्ञान, तर्कशास्त्र और शिक्षा में काशी का कोई सानी नहीं था। सम्भवतः यही कारण था कि भगवान् बुद्ध ने अपना 'धर्म चक्रप्रवर्तन' काशी में ही किया जिससे उनका प्रभाव काशी के विद्वानों पर पड़ सके। काशी की यह परम्परा आज भी जीवन्त है।

तक्षशिला

तक्षशिला जो अब पाकिस्तान में स्थित है, भारतीय शिक्षण-संस्था के रूप में प्राचीन काल से ही विख्यात रहा है। बौद्ध तथा जैन धर्म के क्रान्तिकारी आविर्भाव के लगभग एक शताब्दी पूर्व से ही इसकी प्रसिद्धि शिखर पर थी। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार इसकी

२७- डा. अल्टेकर अनन्त सदाशिव, भारतीय शिक्षण-पद्धति पृष्ठ--८८ ।

स्थापना भरत ने की थी और इसका प्रशासन तक्ष को सौंपा था।[28] महाभारत में भी तक्षशिला का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक काल में तक्षशिला एक विख्यात नगर तथा धार्मिक स्थल के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। कालान्तर में यह वैदिक तथा बौद्ध-शिक्षा के केन्द्र के रूप मे जाना जाने लगा। इस विद्या केन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यहाँ शास्त्रीय ज्ञान के अतिरिक्त धनुर्विद्या तथा चिकित्सा विद्या की भी गहन शिक्षा दी जाती थी। जातकों से ज्ञात होता है कि भारत के विविध क्षेत्रों के साथ ही मध्य एशिया, अफगानिस्तान, यूनान, कोरिया तथा फारस आदि अनेक देशों से बहुत से विद्यार्थी यहाँ पर शिक्षा-ग्रहण करने आते थे। बुद्ध के समसामयिक राजगृह के सुप्रसिद्ध वैद्य जीवक ने औषध-शास्त्र एवं शल्य-चिकित्सा की शिक्षा यहीं प्राप्त की थी । छठी शताब्दी ईसा-पूर्व के सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी का लेखन यहीं प्रारम्भ किया था। सुप्रसिद्ध लेखक तथा राजनीतिज्ञ चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र के पाठ यहीं पढ़े थे। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि तक्षशिला प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्च शोधपरक शिक्षा की व्यवस्था उपलब्ध कराये हुए था।

तक्षशिला शिक्षण-केन्द्र मे विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। वेदत्रयी, अष्टादश शिल्प, व्याकरण मुख्य विषय थे। जिनके अध्ययन के लिए

२८- रामायण- ७/१०१, १०/१६।

तक्षशिला की ख्याति थी। तक्षशिला की कीर्ति का श्रेय उन असंख्य शिक्षकों को था जिनके पांडित्य का यश देश-विदेश में व्याप्त था। ये शिक्षक किसी एक विषय अथवा विषय समूह के मर्मज्ञ होते थे। ये शिक्षक अपने विषय की उच्च शिक्षा स्वतन्त्र रूप से अपने निवास स्थान पर ही संचालित करते थे। तक्षशिला के खडण्हरों में एक भी ऐसा लम्बा-चौड़ा कमरा नही मिला जो कि विश्व विद्यालय के व्याख्यान के लिए उपयुक्त हो। इन सभी तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है, कि तक्षशिला की शिक्षा वैयक्तिक रूप से वहॉ के शिक्षकों द्वारा ही संचालित होती थी। 'सुतसोम जातक' से विदित होता है कि एक आचार्य के पास पॉच सौ छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे[29] तथा एक आचार्य से एक सौ तीन विद्यार्थी धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करते थे।[30]

तक्षशिला में छात्रों को पारिवारिक परिवेश प्रदान कर शिक्षा प्रदान की जाती थी। विद्यार्थियों को शिक्षण-शुल्क भी देना पड़ता था; परन्तु ऐसा नहीं था कि जो निर्धन छात्र थे उन्हें शिक्षा नहीं दी जाती थी। प्रावधान यह था कि धनी छात्र गुरुओं को कार्षापण गुरु-दक्षिणा के रूप में अर्पित करते थे जबकि निर्धन छात्र श्रम द्वारा गुरु-दक्षिणा देता था।[31]

२९- सुतसोम जातक, सं०- ५, पृष्ठ - ४०५।
३०- वही, पृष्ठ - ४५७ ।
३१- मिलिन्द पन्ह ६/२।

नालन्दा

नालन्दा बुद्ध के काल में अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त शिक्षण संस्थान हो गया था। वर्तमान में यह स्थान पटना से दक्षिण की ओर लगभग ५० मील की दूरी पर स्थित है। तारानाथ के अनुसार भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्त का जन्म स्थान यहीं था। इस विश्व विद्यालय हेतु पॉच सौ श्रेष्ठियों ने मिलकर दस करोड़ मुद्रा से भूमि क्रयकर बुद्ध को दिया था। बुद्ध ने यहॉ पर अनेक बार धर्मोपदेश किया था। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रति आस्था प्रकट करते हुए यहॉ पर एक संघाराम बनवाया था। उत्खनन के पश्चात् नालन्दा विश्व विद्यालय के जो अवशेष मिले उनको देखने से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है कि यहॉ विश्वविद्यालय की पूर्व निश्चित योजनानुसार ही बिहार और स्तूपों का निर्माण हुआ था। इनका निर्माण एक पंक्ति में निश्चित दूरी पर हुआ था, इससे यह ज्ञात होता है कि इनकी सापेक्षिक अवस्थिति की परिकल्पना विशद् विवेचना के पश्चात् ही की गयी थी। भवनों का विन्यास कलात्मक ढंग से किया गया था। मुख्य विद्यालय से सम्बद्ध सात विशाल व्याख्यान मण्डप तथा अध्यायन के लिए ३०० छोटे कमरे थे। विश्वविद्यालय के भवन भव्य तथा कई मंजिल ऊँचे थे। उनके शिखर बहुत ऊँचे थे जिन्हें देखकर ऐसा

प्रतीत होता था मानों वे आकाश को छू रहे हों।[32] नालन्दा में विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए एक विशाल पुस्तकालय था। इस पुस्तकालय के तीन भाग थे - रत्न सागर, रत्नोदधि तथा रत्नरंजक। इस स्थल का भ्रमण इत्सिंग तथा ह्वेनसांग ने किया था। इत्सिंग ने यहाँ पर स्वंय चार सौ पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ तैयार की थी। उसके समय में यहाँ विद्यार्थियों की संख्या ३००० थी। ह्वेनसांग के समय में यह संख्या बढ़कर १०००० हो गयी थी।

परवर्ती काल में नालन्दा मूलतः महायान बौद्ध-धर्म का अध्ययन केन्द्र बन गया था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यहाँ पर केवल महायान शाखा के ही छात्र अध्ययन करते थे; बल्कि हीनयान तथा ब्राह्मण धर्म के विद्यार्थियों के लिए भी यह प्रमुख शिक्षण केन्द्र था। यहाँ का पाठ्यक्रम बहुत ही विस्तृत था। यहाँ पालि का अध्ययन आवश्यक था; क्योंकि अधिकांश ग्रन्थ पालि में थे। इसके अतिरिक्त तीनों वेद, वेदान्त और सांख्य-दर्शन आदि विषय भी यहाँ पढ़ाये जाते थे। ब्राह्मण तथा बौद्ध-धर्म ग्रन्थों के अतिरिक्त यहाँ हेतु-विद्या, शब्द-विद्या, चिकित्सा-विद्या, तन्त्र विद्या तथा अन्य विविध विषयों का भी अध्ययन-अध्यापन

३२- एपि० इ०, २०,४३।

यस्यामम्बुधरावलेहि शिखरश्रेणी विहारावली ।
मालेवोर्ध्व विराजिनी विरचिता धामा मनोज्ञाभुवः।।

उद्घृत डा. ए० एस० अल्टेकर
प्राचीन भा० शि०प० पृष्ठ ६०

किया जाता था। नालन्दा विश्व-विद्यालय में देश के कोने-कोने से उच्च शिक्षा प्राप्त प्रतिभाशाली विद्यार्थी अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए आते थे। चीन, तिब्बत, कोरिया तथा जावा और सुमात्रा आदि से भी छात्र यहाँ पढ़ने आते थे। यहाँ के प्रवेश नियम भी बड़े कठिन थे। प्रवेशार्थी को यहाँ पहले द्वारपाल से वाद-विवाद करना पड़ता था। जो द्वारपालों के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते थे वे असफल घोषित होते थे। कई बार विदेशी विद्यार्थियों में से अधिकांश विद्यार्थी विषय की क्लिष्टता के कारण शास्त्रार्थ में भाग नहीं ले पाते थे।[33] तक्षशिला के विपरीत यहाँ पर निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था थी। यहाँ का एक अध्यापक ९ या १० विद्यार्थियों को पढ़ाता था। ''इस विश्वविद्यालय के अध्यापन-कक्ष बहुधा बड़े-बड़े थे। इनमें ८ विशाल व्याख्यान भवन थे और ३०० छोटे कक्ष। सभी विषयों में मिलाकर नित्य लगभग १०० व्याख्यानों की आयोजना की जाती थी।[34] बुद्ध के समय का यह प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र परवर्ती काल में बहुत अधिक ख्याति को प्राप्त किया। विश्व-विद्यालय के प्रबंध, प्रवेश तथा पठन-पाठन के सम्बन्ध में एक सुव्यवस्थित प्रणाली क्रमशः विकसित होती गयी। ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् से यह संस्था क्रमशः ह्रासंगता होने लगी। बारहवीं शताब्दी के मुस्लिम आक्रमणकारी

३३- डा. ए. एस. अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ-६३।
३४- मिश्र डा. जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, द्वितीय-संस्करण, पृष्ठ- ५२० ।

बख्तियार खिलजी ने इस विश्वविद्यालय को धराशायी किया। पुस्तकालयों में आग लगाया तथा उपस्थित शिक्षकों एवं भिक्षुओं को तलवार के घाट उतार दिया।

श्रावस्ती

श्रावस्ती नगर भी उन गिने-चुने स्थलों में से एक है जो बुद्ध के जीवन काल में ही शिक्षण-केन्द्र बन चुके थे। बौद्ध-धर्मानुयायी श्रेष्ठि अनाथ पिण्डक ने यहाँ पर जेतवन बिहार का निर्माण कराया जहाँ बौद्ध-ज्ञान और आचार की शिक्षा दी जाने लगी। यद्यपि कुछ ही वर्षो में यह विहार आग लग जाने के कारण भस्मसात हो गया; परन्तु शीघ्र ही उसका पुनर्निर्माण भी करा दिया गया। यहाँ पर छात्रों के पढ़ने की व्यवस्था के साथ-साथ भिक्षु-छात्रों और बौद्ध आचार्यों के रहने के लिए आवासीय-व्यवस्था भी थी। स्नानागार, औषधालय, पुस्तकालय, अध्ययन कक्ष और व्याख्यान-कक्ष से यह शिक्षा केन्द्र विधिवत् सज्जित था। सम्राट् हर्ष और अशोक के समय में भी यह प्रमुख शिक्षण-केन्द्र के रूप में विख्यात रहा है।

ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में प्रमुख शिक्षा-केन्द्रों के रूप में उपर्युक्त स्थल विख्यात रहे। बाद के समय में विक्रमशिला विश्वविद्यालय, वल्लभी विश्वविद्यालय बौद्ध-शिक्षा केन्द्रों के रूप में विख्यात हुए; लेकिन प्रस्तुत शोध के विषय तथा शोध-क्षेत्र के अनुसार उपर्युक्त विवेचित शिक्षा-केन्द्र ही अतिशय महत्त्व के थे।

सप्तम अध्याय

उपसंहार

ईसा पूर्व छठी शताब्दी वैश्विक स्तर पर धार्मिक क्रान्ति की शताब्दी रही। भारतवर्ष में भी विविध चिन्तकों ने अपने-अपने विचार के अनुसार मतों की स्थापना की अथवा स्थापित मतों का प्रचार-प्रसार किया, जिसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में किया गया है। अध्ययन से यह स्पष्ट है ईसा पूर्व छठी शताब्दी में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों तथा धर्म सुधारों में से केवल बौद्ध तथा जैन-धर्म ही अत्यधिक प्रसिद्धि को प्राप्त किये। ये धर्म सरल तथा सर्वग्राह्य थे यही इनकी जीवन्तता का कारण रहा।

उत्तर-वैदिक लोग जंगलों को जलाकर तथा झाड़ियों को काटकर कृषि-कार्य करते थे। इसी समय के आस-पास लोहे के प्रचलन ने कृषि-कार्य के हेतु लौह उपकरणों को उपलब्ध कर कृषकों के कार्य को सरल कर दिया। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि बुद्ध द्वारा प्रचलित धर्म ने समाज के सभी वर्गों के लोगों को आकर्षित किया। इसका मूल कारण यह था कि यह धर्म कर्मकाण्ड एवं वाह्य-आडम्बर के विरुद्ध था। इसके संस्थापक तथा प्रचारक स्वयं सरल जीवन व्यतीत करते थे तथा लोगों के मध्य तत्कालीन प्रयोग में आने वाली जन-भाषा का ही प्रयोग करते थे। उनकी सरल भषा और सम्यक् उपदेश ने धनी-निर्धन, स्वामी-सेवक तथा उच्चवर्ण-निम्नवर्ण -- सभी लोगों को प्रभावित किया। उनके अनुयायी नितान्त निर्धन भी थे और तत्कालीन बड़े-बड़े

सम्राट् भी । इस प्रकार स्पष्ट है कि बुद्ध ने एक समता मूलक समाज की स्थापना की दिशा मे जबरदस्त प्रयास किया। बुद्ध ने वर्णाश्रम-व्यवस्था और जातीय ऊँच-नीच के भेद को किनारे कर सभी जाति के लोगों को अपने धर्म में समानता के आधार पर प्रवेश दिया। इस प्रकार उनके धर्म ने सामाजिक विभेद को मिटाने तथा समाज में समता का भाव लाने का क्रान्तिकारी कार्य किया। श्री आर. चन्द्रा और आर० एल० चंचरीक ने ''दलित आइडेन्टिटी'' नाम से अपनी प्रकाशित पुस्तक में डॉ० अम्बेडकर के कथन को उद्धृत करते हुए लिखा है कि ''बुद्ध ने कहा कोई जाति नहीं, कोई सामाजिक असमानता नहीं, ब्राह्मण की श्रेष्ठता नहीं, सभी बराबर हैं।''[1]

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय के अध्ययन से स्पष्ट है कि समाज में कार्यो के आधार पर तथा अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों के आधार पर विविध जातियां अस्तित्व में आ चुकी थीं। इनमें से प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप कई निकृष्ट तथा अन्त्यज कही जाने वाली जातियों का भी आविर्भाव हो चुका था। स्त्रियों को समाज में पुरुषों के बराबर महत्त्व नहीं प्राप्त था। बुद्ध का धर्म संघ सभी वर्णों तथा महिलाओं के लिए खुला था। उन्होने वैशाली की गणिका आम्रपाली को भी बेहिचक अपने यहॉ

१- आर. चन्द्रा तथा के. एल. चंचरीकः दलित आइडेन्टिटी, ओसियन बुक प्रा० लिमिटेड, प्रथमसंस्करण - पृष्ठ ६७

शरण दी। इस प्रकार बुद्ध ने नारी-उत्थान का कार्य किया। फिर भी वैदिक काल में जो स्त्रियों को महत्त्व प्राप्त था वह ईसा पूर्व छठी शताब्दी में नहीं स्थापित हो पाया । वैदिक-काल में महिलाओं को सभाओं और समितियों में बोलने का अधिकार था। उपनिषदों के समय में भी स्त्रियों को वैदिक-ग्रन्थों के अध्ययन का पूर्ण अधिकार था। वे जीवन के सर्वोच्च आध्यात्मिक तथ्यों पर पुरुषों के साथ वाद-विवाद करती थीं; लेकिन बुद्ध ने नारियों को आठ शर्तों के साथ प्रवज्जा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान की। ये शर्ते यह सिद्ध करती हैं कि उन्होंने नारियों को महत्त्व प्रदान करते हुए भी उन्हें पुरुषों से किंचित् कम स्वतन्त्रता प्रदान की। बुद्ध ने मानव-प्रेम तथा प्रेम पूर्ण व्यवहार की महत्ता को स्थापित किया। इस प्रसंग में अंगुलिमाल के हृदय-परिवर्तन की घटना उदाहरणीय है। अंगुलिमाल अपने आरम्भिक जीवन में तक्षशिला का छात्र था। इसका नाम "अहिंसक" था। यह अत्यधिक सात्त्विक तथा तेजस्वी छात्र था। अन्य छात्रों ने ईर्ष्यावश इस पर गुरु-पत्नी के साथ अवैध सम्बन्ध होने का आक्षेप लगाया तथा गुरु को भी समझा लिया। गुरु ने क्रोधवशात् उससे गुरुदक्षिणा के रूप में एक हजार व्यक्तियों की हत्या करने को कहा। काफी संकोच के अनन्तर उसने इस कार्य को अपना लिया। वह लोगों को मारता था तथा गणना की सरलता के लिये उनकी अंगुलियाँ काटकर माला में गूँथ लेता था इसी से उसका नाम अंगुलिमाल पड़ गया। बुद्ध उसे समझाने के लिये चले और अन्त में वह बुद्ध के चरणों

मे गिर गया। बुद्ध का पीछा करते हुए उसने पाया कि वह बुद्ध से सदा पीछे ही रह जाता है जब कि बुद्ध सामान्य गति से चल रहे थे। यह कहानी प्रतीकात्मक है। यदि हम इसके प्रतीकात्मकता को छोड़कर इसके पीछे छिपे तथ्यों का सूक्ष्मावलोकन करते हैं तो पाते हैं कि भगवान् बुद्ध का व्यवहार ही वह तत्त्व है जिसने उसे परिवर्तित कर दिया। बुद्ध का व्यवहार सामान्य जनों से भिन्न था। वह जिसे मारता था वह प्रतिकार करता था, किन्तु बुद्ध ने ऐसा नहीं किया। अंगुलिमाल ने अपने अहिंसक जीवन में जनता से शत्रुतापूर्ण व्यवहार पाया था। इसी से प्रभावित होकर उसने शत्रुतापूर्ण व्यवहार को अपनी प्रतिरक्षात्मक शैली बना लिया था। बुद्ध के व्यवहार ने उसके मन में बैठे कालुष्य को दूर कर दिया। यह कलुषता उसके साथियों के व्यवहार के कारण ''ट्रान्सफरेंस'' के रूप में पूरे समाज के प्रति उसके मस्तिष्क में घर कर गयी थी। बुद्ध ने अपने व्यवहार द्वारा उसे दूर कर दिया। एतदर्थ उन्हें उससे अच्छा सम्बन्ध एवं व्यवहार विकसित करना पड़ा होगा।[2]

छठी शताब्दी ईसा-पूर्व के धार्मिक क्रान्ति में बौद्ध-धर्म की ही महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। बुद्ध ने बड़े ही सरल ढंग से कर्मकाण्डों का विरोध करते हुए वैज्ञानिक तरीके से अपने द्वारा संस्थापित धर्म को प्रस्तुत

२- प्रो० राजाराम शास्त्री : सोशलवर्क ट्रेडीशन इन इंडिया, पृष्ठ-१६

किया। जैसा कि प्रस्तुत अध्ययन के द्वितीय अध्याय में वर्णित है बौद्ध तथा जैन धर्म ने अहिंसा पर अत्यधिक बल दिया। बुद्ध ने पशुओं को मित्र कहा। पशु-रक्षा पर बल देने वाले इन धर्मों ने कृषि कार्य हेतु बैलों की संख्या में प्रचुरता ला दी। यही वह काल था जब लोहे के साथ कार्बन मिलाकर कृषि-उपकरण बनाये जाने लगे थे। इस प्रकार बैलों की प्रचुरता, लोहे के बने हल के फाल, हँसिए, खुर्पे तथा कुल्हाड़ी आदि कृषि उपकरणों के प्रयोग ने कृषि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि की। यह उत्पादन कृषकों के अपने भरण-पोषण से अधिक था जिसे अधिशेष उत्पादन कह सकते हैं। इस अधिशेष उत्पादन ने नगरीकरण तथा परोपजीवी वर्ग का पोषण किया। नगर तथा ग्राम में सम्बन्ध स्थापित करने वाले व्यापारियों तथा अन्य शिल्पियों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होने से उनकी सामाजिक महत्ता भी बढ़ी। इन व्यापारियों तथा श्रेष्ठियों ने मन्दिरों, मठों तथा बिहारों और शिक्षण केन्द्रों को प्रभूत दान दिया। इस प्रकार सामाजिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टियों से समाज उन्नत हुआ। इससे हमारे शोध के उद्‌देश्य की उपकल्पना (हाइपोथिसिस) की पुष्टि होती है कि सामाजिक विकास और आर्थिक विकास में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यह भी सिद्ध होता है कि सामाजिक रहन-सहन में परिवर्तन एवं कार्बनिक लोहे के बने उपकरणों ने द्वितीय नगरीकरण में योगदान दिया। लोहे के उपकरणों के प्रयोग, धान की रोपाई तथा गाय बैलों के संरक्षण के लिए प्राप्त धार्मिक समर्थन ने कृषकों की आय में जो वृद्धि की उसने राजशाही व्यवस्था,

दान की परम्परा तथा दस्तकारों और व्यापारियों की प्रस्थिति को शक्ति प्रदान किया।

अधिशेष उत्पादन ने वणिक् समुदाय के उत्थान एवं व्यापार को गति प्रदान कर नयी परोपजीवी संस्कृति का जनन किया। तीसरे अध्याय के अध्ययन से स्पष्ट है कि एक विशेष प्रकार का कार्य करने वाले लोगों की अपने में विशेष जाति बन गयी। व्यवसाय आधारित एवं पेशेवर जातियों ने अपने कार्यों में विशेष दक्षता प्राप्त कर अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं को व्यापार एवं वाणिज्य का हिस्सा बनाकर पर्याप्त अर्थोपार्जन किया जिससे इन जातियों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई। नगरीकरण तथा पेशेवर जातियों के उत्थान और वणिक्-समुदायों तथा श्रेणियों की सुदृढ़ स्थिति ने मुद्रा-प्रणाली तथा कर-प्रणाली को सुव्यवस्थित करने में सहयोग प्रदान किया। राजाओं तथा जमींदारों की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति ने शिक्षा केन्द्रों तथा बिहारों के लिए धन उपलब्ध कराने में सहायता प्रदान की। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कृषि के विस्तार एवं नगरीकरण ने परोपजीवी वर्गों का उत्थान किया। यथा-नृत्य एवं संगीत पर आश्रित वर्ग, व्यापारिक वर्ग, मठों, मन्दिरां तथा विहारों में निःशुल्क पालित होने वाले जन। चतुर्थ अध्याय की अध्ययन से स्पष्ट है कि स्त्रियों की स्थिति ईसा पूर्व छठी शताब्दी में पुरुषों से अवर थी। यद्यपि बुद्ध ने समाज में हेय दृष्टि प्राप्त गणिकाओं को भी महत्त्व प्रदान किया। उन्होनें वैशाली की गणिका आम्रपाली का निमन्त्रण और आतिथ्य स्वीकार करके उसकी

प्रतिष्ठा को प्रतिभासित किया। गणिकाओं के पुत्रों को भी समाज में सम्मान प्राप्त था। इससे विनम्रता पूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्कालीन धार्मिक आन्दोलन में गणिकाओं तथा नर्तकियों को सामान्य स्त्रियों की तुलना में हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था।

व्यापारिक अभ्युन्नति तथा नगरीय जीवन के विकास ने नगरों तक सामान ले जाने की आवश्यकता को बढ़ाया इससे स्थल-मार्ग तथा जल-मार्ग दोनों की खोजें बढीं। स्थल-मार्ग के लिए बैलगाड़ियों तथा जल-मार्ग के लिए नावों की अत्यधिक आवश्यकता बढ़ी जिससे नौका बनाने वाले तथा बैलगाड़ी बनाने वाले कारीगरों की महत्ता बढ़ी । इस प्रकार इन सहयोगी उद्योगों को फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला होगा। हमने अपने अध्ययन में यह भी देखा कि तत्कालीन राजाओं ने भी श्रेष्ठियों तथा व्यापारियों को अपना संघ बनाने तथा अपना नियम बनाने का अवसर दिया। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस काल में आर्थिक तथा वैधानिक शक्तियों का प्रतिनिधायन (डेलीगेशन) किया गया। जैसा कि हमनें छठें अध्याय में वर्णित किया है कि इस काल में शिक्षा का पर्याप्त प्रचार-प्रसार किया गया। बुद्ध तथा महावीर दोनों ने अपने चिन्तन से समाज को घूम-घूम कर अवगत कराया। इन धर्म-संस्थापकों का सम्पूर्ण जीवन व्यावहारिक तथा नैतिक-शिक्षा प्रदान करने में बीता। बुद्ध का दर्शन तो जीवन की समस्याओं के अध्ययन, उनके निदान तथा उपचार पर ही

आश्रित था। उन्होंने समान्यजनों तथा श्रमणों दोनों के आचार-व्यवहार तथा सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति किये जाने वाले कर्त्तव्यों की शिक्षा प्रस्तुत की। बुद्ध के धर्म ने क्रान्तिकारी रूप से समाज को प्रभावित किया। समाज में आर्थिक समृद्धि को पैदा किया। आर्थिक समृद्दि के परिणाम-स्वरूप परोपजीवी मठ, मन्दिर और शिक्षण केन्द्र पल्लवित और पुष्पित हुए। इन शिक्षण केन्द्रों में विद्यार्थी निश्चिन्त भाव से जीवन के सर्वांगीण विकास की शिक्षा प्राप्त करते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थी किसी भी प्रकार का शुल्क नहीं देते थे। ५०० श्रेष्ठियों ने दस करोड़ मुद्राओं से नालन्दा क्षेत्र को क्रय करके महात्मा बुद्ध को अर्पित किया था। यहाँ के खर्चे के लिए विश्वविद्यालय को २०० गाँव भी दान में प्राप्त थे। तात्पर्य यह है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी की वैचारिक क्रान्ति ने समाज के प्रत्येक घटक को प्रभावित किया। जीने की शैली परिवर्तित की। धार्मिक दृष्टि बदली। आर्थिक समृद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त किया तथा शैक्षिक व्यवस्था और शैक्षिक विषय-वस्तु को संशोधित और परिवर्धित किया।

वस्तुतः बौद्ध तथा जैन धर्म ने परम्परागत रूप से चली आ रही व्यवस्था को झिंझोड़ दिया। इन धर्मों ने धर्म के व्याख्याता ब्राह्मणों तथा धार्मिक कर्मकाण्डों के कर्त्ता ब्राह्मण पुरोहितों पर सीधा प्रहार किया। बौद्ध-धर्म-संस्थापक सिद्धार्थ-गौतम तथा जैन धर्म को नवीन कलेवर में प्रस्तुत करने वाले महावीर जैन -- दोनों ही क्षत्रिय

राजकुमार थे। इन्होनें धर्म की व्याख्या तथा निर्वाण के मार्ग बताकर इस मिथक को तोड़ दिया कि धर्म, दर्शन तथा शिक्षा के विषय में ब्राह्मणों को एकाधिकार प्राप्त है। उन्होंने वैदिक धर्म के साथ-साथ तत्कालीन समाज में विद्यमान अनेक सम्प्रदायों के अतिवादी सिद्धान्तों का खण्डन किया।

ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा सम्पादित किये जाने वाले यज्ञों एवं पशु-बलियों का विरोध कर उन्होंने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की धुरी ब्राह्मणों एवं उनके धर्म-ग्रन्थों पर सीधा प्रहार किया। ये एक ऐसा कार्य था जिससे ब्राह्मणों की सम्मानजनक स्थिति अपेक्षाकृत कमजोर हुई। उनके वैदिक कर्म-काण्ड को प्रश्रय देने वाले धर्मग्रन्थ प्रश्न के घेरे में आ गये। इस प्रकार एक सामाजिक क्रान्ति आ गयी जिसने तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था की जड़ों को हिला दिया तथा नवीन तार्किक एवं वैज्ञानिक व्यवस्था का सूत्रपात किया। क्षत्रिय, ब्राह्मणों के मिथ्याभिमान से आहत थे फलस्वरूप उन्होनें नवीन बौद्धिक आदोलन को अपना समर्थन प्रदान किया । प्रो० रामशरण शर्मा लिखते है कि ''वर्ण सम्बन्धी ब्राह्मण विचारधारा उत्पादन, कर/उपहार इकट्ठा करने तथा वितरण को नियन्त्रित करने के लिए बनायी गयी एक बुद्धिमत्तापूर्ण युक्ति थी। परन्तु इस युक्ति से भेदमूलक विधान को बहुत दूर तक ले जाया गया जिसके परिणाम-स्वरूप यह नवीन भौतिक परिवर्तनों की अवरोधक बन गयी। इसकी तुलना में महत्त्वपूर्ण सामान्य बौद्ध-शिक्षाओं ने नवीन भौतिक एवं सामाजिक व्यवस्था को सहायता प्रदान

की और वर्ण-व्यवस्था की कठिनाइयों को कम करने में सहायता की।"[3]

नवीन धार्मिक आन्दोलन ने व्यापारियों के पक्ष मे एक और महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि उसने ऋण देने तथा दास रखने की प्रथा की निन्दा नहीं की जबकि ब्राह्मण विचारधारा में ब्याज पर धन देने वालों की निन्दा की जाती थी। प्रकारान्तर से यह भी एक क्रान्तिकारी कदम था जिसने व्यापारी वर्ग के हितों का पोषण किया। इस प्रकार ईसा पूर्व छठी शताब्दी की वैचारिक क्रान्ति ने सामाजिक-व्यवस्था, आर्थिक-व्यवस्था, धर्म तथा दर्शन सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। इनका दर्शन तर्कसम्मत तथा व्यवहार सम्मत था और यही इसकी जीवन्तता का कारण था। इसकी सरलता तथा सर्वजन ग्राह्यता ने इसे सर्वजन प्रिय बना दिया।

--------::------

३- शर्मा, शरण : भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृष्ठ - २२०

महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ

महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1- ऋग्वेद संहिता : वैदिक संशोधन मण्डल, (तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, वैदिक संशोधन मण्डल) वैदिक रिसर्च इंस्टीच्यूट पूना ।

2- यजुर्वेद : पंडित श्री रामशर्मा आचार्य संस्कृति संस्थान, बरेली ।

3- अर्थवेद : पंडित श्री रामशर्मा आचार्य संस्कृति संस्थान, बरेली ।

4- मनुस्मुति : (पं० रामेश्वर भट्ट) चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी।

5- बाल्मीकीय रामायण : खेमराज श्री कृष्णदास, श्री वेंकटेश्वर प्रेस खेतबाड़ी, बम्बई।

6- महाभारत : गीताप्रेस,गोरखपुर ।

7- श्रीमद्भगवद् गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

8- ईशदि नौ उपनिषद् : व्याख्याकार-हरिकृष्ण दास गोयंदका,गीताप्रेस, गोरखपुर ।

9- निघंटु और निरुक्त . संपादक और अनुवादक, लक्ष्मण स्वरूपमूल, पंजाब विश्वविद्यालय (१६२७)

10- आश्वलायन गृह्यसूत्रः निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

11- गौतम धर्मसूत्र : हरदत्त टीका सहित,आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज ।

12- बौधायन धर्मसूत्र : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज ।

13- आपस्तम्ब धर्म सूत्रः चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।

14- महापरिनिब्बाणसुत्तः ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी(संवत २०१५)

15- अंगुत्तर निकाय : संपादक, आर०मोरिस तथा ई० हार्डी, लन्दन ।

16- दीधनिकाय : संपादक, रीजडेविडस और इ० कार्पेन्टर अनूदित, राहुल सांकृत्यायन ।

17- विनय पिटक : हिन्दी अनुवाद राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ वाराणसी।

18- जातक : संपादक, फाउसबोल्स, हिन्दी अनुवाद,भदन्त आनन्द कौसल्यायन ।

19- श्रेष्ठ जातक कथाऐंः सुनील साहित्य सदन, उत्तरीघोंडा, दिल्ली।

20- जैनधर्म : सिद्धान्ताचार्य, पं०कैलाश चन्द्र शास्त्री,गीतांजलि प्रकाशन, विश्वासनगर, दिल्ली (१९९६) ।

21- महाभाष्य : संपादक एफ० कीलहार्न,बम्बई ।

22- अष्टाध्यायी : पाणिनीकृत, निर्णय सागर प्रेस (१६२६) ।

23- काणे, पाण्डुरंग वामनः धर्मशास्त्र का इतिहास(पॉच भाग) (अनुवादक,अर्जुन चौबे काश्यप) उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,

24- उपाध्याय,बलदेव : वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा संस्थान, रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी (१६७३) ।

25- पाण्डेय, चन्द्रशेखर : एवं व्यास,शान्तिकुमार नानूराम संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, साहित्य निकेतन, शिवाला रोड, गिलिस बाजार कानपुर ।

26- कोसांबी, डी०डी० : प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता,राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।

27- अल्टेकर, ए०एस०: प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली, वाराणसी।

28- डॉ० ईश्वरी प्रसाद : एवं शैलेन्द्र शर्मा प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति,धर्म तथा दर्शन (१६८६), मीनू पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद ।

29- थापर, रोमिला : भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग,नई दिल्ली(२००३)।

30- झा,द्विजेन्द्र नारायणप्राचीन भारत का इतिहास,
एवं हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन
श्रीमाली,कृष्णमोहन निदेशालय,दिल्ली(१६६४) ।

31- ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, विश्वप्रकाशन (न्यू एज इंटरनेशनल) अंसारी रोड,दरिया गंज, नई दिल्ली ।

32- शर्मा, रामशरण : प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय (२०००) ।

33- शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग,नई दिल्ली(१६६७)।

34- दिनकर,रामधारी सिंह संस्कृति के चार आध्याय, लोक भारती प्रकाशन,महात्मागाँधी मार्ग, इलाहाबाद ।

35- मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी(१६८०) ।

36- तिवारी, देवीप्रसाद : प्राचीन भारत में विधवाएँ, तरुण प्रकाशन,लखनऊ ।

37– शास्त्री,राजाराम : सोशलवर्क ट्रेडीशन इन इण्डिया, वेलफेयर फोरम एण्ड रिसर्च आर्गानाइजेशन,वाराणसी(१६६६)

38– आर०चन्द्रा एवं के०एल०चंचरीक : दलित आइडेण्टिटी,ओशन बुक्स प्रा०लि०,नई दिल्ली(२००२) ।

-------::-------